

# समरथ



जनवरी-मार्च 2018 • नई दिल्ली



12 अप्रैल 1954—02 जनवरी 1989

## नाहि तो जन्म नसाई

भारतीय संविधान की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें वो सभी आदर्श निहित हैं जो हमारे स्वतंत्रता आंदोलन के अहम उद्देश्य थे। हमारे रहनुमाओं ने अपनी सियासी, सामाजिक और ऐतिहासिक सूझबूझ से यह भलीभांति समझ लिया था कि भारत सदियों से विभिन्न धर्मों, नस्लों, भाषाओं, संस्कृति का केंद्र रहा है और इतिहास के अनदेखे हाथों ने इन्हीं तत्वों से सदियों में हमारे सामाजिक ढांचे का निर्माण किया है। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि इस देश में योरोप की 'नेशन स्टेट' की तरह किसी एक धर्म, एक भाषा और एक संस्कृति को राष्ट्रीयता का आधार नहीं बनाया जा सकता। क्योंकि भारतीय राष्ट्रीयता बहुलता में एकता, धार्मिक, सांस्कृतिक और भाषाई रंगारंगी का पर्याय है जिसमें बहुसंख्यकवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। हमारे स्वतंत्रता संग्राम का उद्देश्य सिर्फ गुलामी से छुटकारा पाना नहीं था बल्कि गरीबी और छुआछूत जैसी सामाजिक बुराईयों का उन्मूलन भी उसकी प्राथमिकता थी। हमारे नेताओं और विशेषतः गांधीजी के स्वराज की परिकल्पना अहिंसा, हिंदू मुस्लिम एकता, आर्थिक आत्मनिर्भरता और छूतछात के उन्मूलन पर आधारित थी। चुनांचे आजादी के बाद जब मुल्क एक गणतंत्र बना तो लोकतंत्र, धार्मिक और भाषाई बहुलता, सामाजिक और लैंगिक समानता को संविधान की बुनियाद बनाया गया और यही वो मूल्य हैं जो भारतीय राष्ट्रीयता की पहचान बने। जिन्हें प्रसिद्ध इतिहासकार रामचंद्र गुहा ने सामूहिक रूप से संवैधानिक देशभक्ति करार दिया है।

दुर्भाग्य से स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान द्विराष्ट्रीय विचारधारा ने हमारे सामाजिक जीवन में धार्मिक और सांप्रदायिक उन्माद को जन्म दिया। जिसकी बुनियाद पर मुल्क का बंटवारा हुआ और यह बंटवारा जिस व्यापक हिंसा और खून-खराबे के माहौल में हुआ उसमें यह संभव था कि हम भी अपने आदर्शों से भटक जाते मगर हमारे रहनुमाओं के कदम नहीं डगमगाए और उन्होंने मुल्क के भविष्य के लिए जो संविधान बनाया उसमें उन आदर्शों पर आंच नहीं आने दी जिनसे हमारे स्वतंत्रता संग्राम को शक्ति मिलती थी।

इस संवैधानिक देशभक्ति के विपरीत एक धर्म और एक भाषा की बुनियाद पर जो मुल्क बना उसके विघटन के बीज भी उसी वक्त बो दिए गए और अपने सहधर्मियों पर उनकी मातृभाषा के बजाय एक दूसरी जुबान थोपने की कोशिश का परिणाम चौबीस साल बाद एक नए मुल्क बांग्लादेश की शकल में सामने आया। जिसने द्विराष्ट्रीय विचारधारा के खोखलेपन को उजागर कर दिया। इन घटनाओं में हम सबके लिए एक सीख है और वह यह कि संविधान के ढांचे और उसकी आत्मा के साथ किसी तरह का भी खिलवाड़ हमारे लिए आत्महत्या हो सकती है।

## आजादी

मुझको समझाओ कि आजादी का मफहूम है क्या मेरी माँ मुझको मेरे फैसलों को इज्जत दे ?

यही आजादी है क्या ?

कि मैं जो ख्वाहिशें रखती हूँ उन्हें पूरा करूँ ?

और तबस्सुम से हूँ लबरेज

मैं खुद जब चाहूँ

कोई चाहे कि नहीं मैं चाहूँ

यही आजादी है क्या ?

किसी बंदिश किसी जंजीर के डर से आगे

जिस तरह चाहूँ उसी तरह जिऊँ

यही आजादी है क्या ?

अपनी मंजिल की और तकदीर की तारीख लिखूँ

यही आजादी है क्या ?

अपने ही पहलू में मैं बैठूँ जुदा इस दुनिया से

यही आजादी है क्या ?

अपनी शर्तों पे मैं तारीख और तकदीर लिखूँ

अपने ही मुल्क की और उससे मोहब्बत की बात

लिख सकूँ गर बस इतना तो समझना यह कि

मेरी आजादी है बस यह मेरी आजादी है।

(दक्षिण सूडान ने वर्षों अपनी पहचान के लिए संघर्ष किया अंततः कुछ साल पहले नया देश बना। यह उत्तरी सूडान से अलग अपनी अस्मिता का प्रतीक है। बैथन मैक्सवैल की यह कविता इसी की आवाज़ है।)

■ अनुवाद : डॉ. खुर्शीद अनवार

---

## १८ साल के मतदाताओं के नाम

### एक खुला पत्र

मतदान से पहले बहुत से काम हैं जो आपको मतदान केंद्र पर पहुंचने से पहले करने चाहिए। ये कोई नहीं बताएगा। चुनाव आयोग भी आपको बटन दबाना ही बताएगा...

#### ■ रवीश कुमार

---

सन 2000 में पैदा हुए युवाओं को इस साल मतदान का अधिकार मिलने जा रहा है। आप जब पैदा हुए तब दुनिया भर में 21वीं सदी का स्वागत हो रहा था। आप जब मतदान देने लायक हो रहे हैं, तब इस सदी के 18 साल बीत चुके हैं। दुनिया भर में 21वीं सदी ने कोई खास कमाल तो नहीं किया है। समस्याएं वहीं की वहीं हैं। उन्हें दूर करने के नाम पर अनाप-शनाप समाधानों की बड़े स्तर पर पैकेजिंग की जा रही है।

21वीं सदी ने लोकतंत्र के सामने फिर से वही चुनौतियां खड़ी कर दी हैं, जिनसे लड़ते-लड़ते 20वीं सदी बीत गई। लोकतंत्र में अधिकारों के विस्तार के नाम पर आम आदमी पर तरह-तरह से नियंत्रण कायम करने का तरीका खोज लिया गया है। आधार उन्हीं में से एक है। 21वीं सदी ने निजता, एकांत पर भयंकर हमला किया है। भारत सहित दुनिया भर में आम लोगों तक पहुंचने वाली सूचनाओं के माध्यमों पर सत्ता का नियंत्रण बढ़ गया है। 21वीं सदी में तरह-तरह के तानाशाह पैदा हो रहे हैं, जो काल्पनिक लक्ष्यों के नाम पर बेवकूफ बना रहे हैं।

मुझे पता है कि आप अभी स्कूल से निकले हैं, कॉलेज में गए हैं। इस दौरान आपका अच्छा खासा वक्त स्कूल से लेकर कोचिंग में गुजर गया है। मॉल से लेकर पब में भी गुजरा है। खेल के मैदानों में भी गुजरा है। इस उम्र में यही सब होता है। आप खुद को दूँढ रहे होते हैं और घर परिवार में लोग किसी और तरफ धकेल रहे होते हैं। यही होता है जब आप मतदाता बनकर मैदान में आते हैं। हर कोई आपको अपनी तरफ मोड़ने में लगा रहेगा।

आपको इस बार मतदाता बनना है। यह मत सोचिए कि 18 साल के हो गए और मतदाता बन गए।

इस तरह का मतदाता किसी काम का नहीं होता है। वो सिर्फ धूर्त नेताओं के इस्तेमाल के काम आता है। आपको बताया जाएगा कि मतदान ही महान काम है, जबकि मतदान अंतिम और साधारण काम है।

मतदान से पहले बहुत से काम हैं जो आपको मतदान केंद्र पर पहुंचने से पहले करने चाहिए। ये कोई नहीं बताएगा। चुनाव आयोग भी आपको बटन दबाना ही बताएगा, यह नहीं बताएगा कि मतदाता कैसे बना जाता है, उसके लिए क्या-क्या किया जाता है। उसके लिए आप मात्र एक नंबर हैं। मतदान के लिए बटन दबा देंगे तो आयोग इसी में खुश हो जाएगा कि बड़ा भारी काम हो गया। 65 से बढ़कर 67 फीसदी मतदान हो गया।

आपके वोट के लिए नेता वही करेगा जो आपसे पहले 18 साल के हुए मतदाताओं के साथ किया है। मतलब उसी तरह से झूठ बोलेंगे और खुद को किसी सिनेमाई नायक की तरह पेश करेगा। वह अफवाहों और मिथकों का ऐसा जाल रचेगा कि आप पहले ही दिन उसमें फंस जाएंगे। आपसे पहले भी लोग फंस चुके हैं और आज तक फंसे हुए हैं। जिस तरह आप अपने करियर के बारे में फैसला करते हैं, उसके लिए तैयारी करते हैं, वैसा ही आपको मतदाता बनने के लिए करना चाहिए।

मतदाता बनना प्रतिशत में गिना जाना नहीं होता है। अच्छा मतदाता वह होता है जो वोट देने से पहले काफी मेहनत करता है। तर्कों का इस्तेमाल करता है, तरह-तरह की पहचान के नाम पर भड़काई गई भावुकता में नहीं बहता है। अलग-अलग पहचान या भावुक मुद्दों के जरिए नेता आप तक पहुंचने की कोशिश करेगा। खुद

जात पात की राजनीति करेगा और आपको जात पात की राजनीति न करने पर लेकर देगा। उसकी अपनी कोई नैतिकता नहीं होगी मगर वो बात-बात में नैतिक शिक्षा देगा। ऐसे नेताओं से बचिए जो नीति की बात कम करे और नेता-नेता ज्यादा करे।

सबसे पहले आप देखिए कि आपका 18 साल होने के दौरान संस्थाओं को लेकर क्या अनुभव रहा है। कोर्ट, पुलिस, मंत्री, पत्रकार और सरकारी अफसर के बारे में आप क्या कुछ देखते सुनते हुए बड़े हुए हैं। मुमकिन है ऐसा कुछ भी न हुआ है या ऐसा होने का वक्त ही न मिला हो। आप 18 साल के हो चुके युवाओं के बंडल मात्र नहीं हैं। धूर्त नेता आपको गठरी की तरह समेटने का प्रयास करेगा लेकिन आप खुद को गठरी से बाहर निकालिए।

किसी भी सरकार का मूल्यांकन आप इस आधार पर कीजिए कि मीडिया कितना स्वतंत्र है। मीडिया सरकार से कितना सवाल करता है और सवाल करने वालों को कितनी जगह देता है। वैकल्पिक आवाजों और विरोध के स्वर को कितनी जगह मिलती है और गुणगान को कितनी। आप यह काम अखबार पढ़ते समय और न्यूज़ चैनल देखते समय जरूर करें।

ध्यान रहे, अखबार खरीदने से अखबार पढ़ना नहीं आ जाता है। बहुत सावधानी से अखबारों की चालाकी पकड़ते हुए आपको खबरों की तह तक पहुंचना होगा। यही काम आप टीवी के साथ करें। हिसाब करें कि वह क्या दिखा रहा है और क्या नहीं दिखा रहा है। क्या नहीं दिखा रहा है जब आप इसकी गिनती करेंगे तो पता चलेगा कि न्यूज़ चैनल किस तरह लोकतंत्र को कमजोर कर रहे हैं। किसी एक अखबार या एक चैनल से ही सूचना न लें। तरह-तरह के माध्यमों का इस्तेमाल करें और सूचनाओं की प्रस्तुति को लेकर अपना विश्लेषण खुद करें।

आप यह भी देखिए कि उन माध्यमों में क्या किसानों या सरकारी संस्थानों से पीड़ित तबकों को जगह देता है? अभी हाल ही में दिल्ली में किसानों का प्रदर्शन हुआ था, कई मीडिया संस्थानों ने उनकी खबर ही नहीं छपी। देश भर के लाखों युवा सरकारी भर्ती बोर्ड से परेशान हैं। मीडिया उनकी परेशानी को कभी पहले पन्ने पर नहीं छापता है। आपकी भी नहीं छापेगा। आपको मूर्ख बनाने के लिए आपके 18 साल होने का जश्न जरूर मनाएगा।

मतदाता अपने लिए भी वोट करता है और समाज के दूसरे तबके के लिए भी। अगर सरकार और मीडिया किसान या किसी कमजोर तबके की आवाज को गैर जरूरी समझते हैं, चुप करा देते हैं और आप चुप रह जाते हैं तो एक दिन आपके साथ भी यही होगा। यही मीडिया आपकी आवाज को जगह नहीं देगा और आप कुछ नहीं कर पाएंगे। लोकतंत्र में जरूरी है कि सबकी आवाज उठे और सबकी बात सुनी जाए। अगर कोई सरकार कमजोर तबके की परवाह नहीं सुनती है तो आप उसे कैसे अपना मत दे सकते हैं।

राजनीति में धर्म के इस्तेमाल से बचें। आजकल बड़ा नेता चालाक हो गया है। खुद अच्छी बातें करेगा और बाकी दूसरे नेताओं और आईटी सेल के जरिए धार्मिक विवाद फैलाने वाले विवाद को फैलाएगा या किसी के विवाद को घसीट कर नफरत फैलाएगा। हर दौर में नेताओं ने यही किया है ताकि आप मूल सवाल करने की जगह भावनाओं में बह जाएं। आपके साथ ऐसा न हो, इसके लिए आपको बहुत मेहनत करनी होगी।

नीतियों के बारे में फैसला करने के लिए सिर्फ मीडिया पर आश्रित न रहें। कभी-कभार वक्त निकालकर किसी सरकारी संस्थान जैसे अस्पताल, थाना, नगरपालिका वगैरह जाकर देख आएं। किसी सरकारी योजना का खुद मूल्यांकन करना भी अच्छा रहेगा। यूं समझिए कि आप आईआईटी के इम्तिहान की तैयारी कर रहे हैं। आप सिर्फ धारणा के आधार पर टिक मार्क नहीं लगा सकते। तुक्का लगाने वाले ज्यादातर फेल होते हैं। आज की राजनीति इसी मॉडल पर आधारित है कि आप धारणाओं और पहचान के आधार पर बटन दबा दें।

मीडिया से लेकर हर कोई बताएगा कि आपका काम नेता चुनना है। प्रधानमंत्री हो या मुख्यमंत्री। एक मतदाता का काम प्रधानमंत्री चुनना नहीं है। चुनाव लोकसभा के गठन का होता है। चुनाव आयोग अपनी अधिसूचना में कहीं नहीं लिखता है कि सरकार बनाने के लिए प्रधानमंत्री का चुनाव हो रहा है। वह यही कह कर अधिसूचना जारी करता है कि 17वीं लोकसभा के गठन के लिए चुनाव हो रहा है। इसका मतलब यह हुआ कि आप स्थानीय स्तर पर प्रतिनिधि चुनें। सदन में जो जीत कर जाएगा वो अपने बीच से नेता चुन लेगा। यह एक मुश्किल प्रयोग है मगर इसे आपको तो करना नहीं है। आपको तो सिर्फ अच्छे उम्मीदवार को वोट देना है।

आप नए मतदाता हैं। आपसे उम्मीद की जाती है कि आप राजनीति में कुछ नया करेंगे। मतदान प्रतिशत बढ़ाने के लिए कभी मतदान न करें। सोच समझ कर, प्रोपेगेंडा और पैसे के खेल को समझते हुए वोट देने का फैसला करें। नीतियों पर ज्यादा चर्चा करें। उनके बारे में ज्यादा सूचना जमा करें।

मीडिया का अपने हित में इस्तेमाल अपने लिए करें न कि मीडिया को आपका इस्तेमाल करने दें। आप सभी युवा हैं। देश को लेकर कंप्यूटर होने की जरूरत नहीं है। भारत एक अच्छा देश है, जिसकी राजनीति पर बुरे लोगों का कब्जा हो गया है। इनका और कब्जा न हो जाए इसके लिए जरूरी है कि सोच समझ कर और सही सूचनाओं का संग्रह करने के बाद मतदान करें। कोई नज़र नहीं आता है तो नोटा का बटन दबा दें। अपने वोट को किसी दल के यहां बंधक न रखें। मुझे उम्मीद है आप एक अच्छे और पहले के मतदाताओं से भी बेहतर मतदाता साबित होंगे। बस एक बात ध्यान रहे। वोटर आईकार्ड बन जाने से कोई वोटर नहीं हो जाता है। वोटर का काम उम्मीदवार चुनना है न कि सरकार। साभार : एनडीटीवी इंडिया

## 4 • समरथ

जनवरी-मार्च 2018

---

# अतार्किकता और अवैज्ञानिकता के मामले में क्या हम पाकिस्तान बनने की ओर अग्रसर हैं?

■ सुभाष गाताडे



भारत में बंददिमागी एवं अतार्किकता को जिस किस्म की शह मिल रही है और असहमति की आवाजों को सुनियोजित ढंग से कुचला जा रहा है, उसे रोकने की जरूरत है ताकि संविधान को बचाया जा सके।

मुल्क की राजधानी और देश के सबसे बड़े विश्वविद्यालय का एक नजारा। ठसाठस भरे ऑडिटोरियम में 'आध्यात्मिक हृदय रोग विशेषज्ञ कहलाने वाला एक शख्स पहुंचता है और अपना व्याख्यान शुरू करता है। विषय है जिन्नो अर्थात भूतों की मौजूदगी।

वक्ता ने सभी अदृश्य जीवों को तीन श्रेणियों में बांटा—वे जो उड़ सकते हैं; जो परिस्थिति के हिसाब से आकार एवं रूप बदल सकते हैं और वे जो अंधेरी जगहों में निवास करते हैं।

उनका सरल-सा तर्क था कि आखिर खरबों डॉलर का व्यापार करने वाला हॉलीवुड हॉरर मूवीज़ या पैरानॉर्मल परिघटनाओं पर इतनी रकम बर्बाद क्यों करता अगर उनका अस्तित्व न होता।

गनीमत समझें कि यह कार्यक्रम पड़ोसी मुल्क की राजधानी इस्लामाबाद में सम्पन्न हुआ। पाकिस्तान के मशहूर भौतिकीविद् एवं मानवाधिकार कार्यकर्ता परवेज़ हुदभाय ने वहां के अखबार द डॉन में अपने एक आलेख 'जिन्नस इनवेड कैंपसेस' में इसकी चर्चा की थी।

उनके मुताबिक ऐसे आयोजन वहां अब अपवाद कतई नहीं हैं। पैरानॉर्मल ज्ञान के विशेषज्ञ आए दिन वहां के स्कूलों-कॉलेजों में पहुंचते रहते हैं। मिसाल के तौर पर कराची के मशहूर इंस्टिट्यूट फॉर बिजनेस

मैनेजमेंट ने 'मनुष्य के आखिरी पल' विषय पर बोलने के लिए ऐसे ही किसी शख्स को बुलाया था।

विज्ञान एवं तर्कशीलता के विरोध ने 'पाकिस्तान के विश्वविद्यालयों का प्रबोधन के दीपक या नए चिंतन के अगुआ होने के बजाय भेड़ों के फार्म में रूपांतरण' (बकौल हुदभाय) की यह परिघटना हर तर्कशील व्यक्ति को चिंतित कर सकती है।

मुमकिन है ऐसे लोग इस बात पर हंस भी सकते हैं कि वहां 10वीं कक्षा की भौतिकी की किताब में भौतिकी के इतिहास में न्यूटन और आइंस्टीन गायब हैं बल्कि टॉलेमी द ग्रेट, अल किंदी, इब्न-ए-हैथाम आदि विराजमान हैं या किस तरह खैबर पख्तूनख्वा प्रांत में पाठ्यक्रम के लिए लिखी जीव विज्ञान की किताब डार्विन के इवोल्यूशन के सिद्धांत को सिरे से खारिज कर देती है।

पड़ोसी मुल्क में बढ़ती बंददिमागी को लेकर हर वह शख्स चिंतित हो सकता है जो वैज्ञानिक चिंतन, तर्कशीलता में ही नहीं समूची मानवता की बेहतरी में यकीन रखता हो। कोई भी बता सकता है कि वहां ऐसी स्थितियां रातोंरात निर्मित नहीं हुई हैं, उसके बीज बहुत पहले पड़े हैं।

वैसे अगर हम अपने गिरेबां में झांकने की कोशिश करें तो लग सकता है कि यहां भी ऐसी कोशिशें जोर पकड़ती दिख रही हैं, अलबत्ता उस पर अधिक ध्यान नहीं गया हो। पिछले दिनों का वाक्या शायद इसी बात का समर्थन करता है।

मानव संसाधन राज्यमंत्री सत्यपाल सिंह-

जो रसायन विज्ञान में स्नातक की डिग्री हासिल किए हैं तथा जिन्होंने अपनी सक्रिय जिंदगी को पुलिस सेवा में गुज़ार दिया—ने किसी सभा में बोलते हुए डार्विन के विकासवाद के सिद्धांत को खारिज कर दिया।

उनका तर्क आसान था कि 'डार्विन का विकासवाद का सिद्धांत गलत है क्योंकि हमारे पुरखों ने इस बात का कहीं उल्लेख नहीं किया कि बंदर को आदमी में बदलते हुए उन्होंने देखा है।'

अपनी यह निजी राय प्रकट करके ही वह खामोश नहीं हुए उन्होंने स्कूली पाठ्यक्रम में प्रस्तुत सिद्धांत के सिखाए जाने पर भी

सत्ताधारी पार्टी के एक ऐसे अग्रणी सदस्य, जो मानव संसाधन विकास मंत्रालय—जहां बच्चों का भविष्य गढ़ाने की नीतियां बनती हैं—में अहम पद पर हैं, उनकी बात को महज़ प्रलाप नहीं कहा जा सकता।

बात की गंभीरता इस वजह से भी बढ़ गई कि पार्टी के एक अग्रणी सदस्य राम माधव—जो सरकार की नीतियों को दिशा देने की हैसियत रखते हैं—उन्होंने डार्विन को लेकर मंत्री महोदय के 'मौलिक विचारों' का तत्काल समर्थन किया।

इसमें कोई दो राय नहीं कि संविधान में वैज्ञानिक चिंतन की जिस अवधारणा पर जोर दिया गया है, तथा जिसकी शपथ मंत्री महोदय ने खाई होगी, उसके साथ उनका यह बयान पूरी तरह बेतुका मालूम पड़ता है और यह अकारण नहीं था कि आम तौर पर सार्वजनिक बहसों से दूर रहने वाले विज्ञान की विभिन्न संस्थाओं ने भी इस मसले पर तीखी प्रतिक्रिया दी।

अपने बयान में उन्होंने उनके वक्तव्य को सिरे से खारिज किया। उन्होंने जोड़ा कि डार्विन का सिद्धांत वैज्ञानिक है और जिसके आधार पर ऐसी तमाम भविष्यवाणियां की गई हैं जो प्रयोगों एवं अवलोकन के आधार पर सही साबित हुई हैं।

इकोलॉजी और इवोल्यूशनरी साइंसेस के जाने-माने विज्ञानी राघवेंद्र गड़गकर—जो फिलवक्त इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ साइंस में प्रोफेसर हैं और इंडियन नेशनल साइंस एकेडमी के पूर्व अध्यक्ष रह चुके हैं—ने इस वक्तव्य की भर्त्सना करते हुए मीडिया को बताया कि यह 'एक तरह से विज्ञान और वैज्ञानिकों को राजनीतिक तौर पर ध्रुवीकृत करने की कोशिश है' और इस 'वास्तविक खतरे के खिलाफ हमें सचेत रहना चाहिए।'

उनका यह भी कहना था कि तथ्यों के आधार पर देखें तो उनका यह बयान असमर्थनीय है। उनके अनुसार, 'बिल्कुल प्रारंभिक स्तर पर देखें तो, सभी सबूत यहीं दिखाते हैं कि मनुष्य अपने सबसे नजदीकी जिंदा आत्मीय चिम्पांजी से पचास लाख साल पहले अलग हुआ। इसलिए हमारे पुरखों के लिए यह मुमकिन नहीं था कि वह इस घटना को देखें और अपनी किताबों में दर्ज करें।'

देशभर के हजारों वैज्ञानिकों ने जिस बयान पर दस्तखत

सवाल उठाए।

निश्चित ही यह पहली दफ़ा नहीं है कि मंत्री महोदय अपने विवादास्पद बयानों के लिए सुर्खियों में आए हों। पिछले साल सितंबर महीने में उन्होंने यह कह कर हलचल मचा दी थी कि आईआईटी के छात्रों को यह सिखाना गलत है कि हवाई जहाज़ का आविष्कार राइट बंधुओं ने किया, दरअसल इसका आविष्कार शिवराम बापूजी तलपड़े ने किया था।

किए हैं, उसमें यह भी कहा गया है :

**‘आप का यह दावा है कि वेदों में सभी प्रश्नों का जवाब है। यह अतिशयोक्तिपूर्ण दावा उपलब्ध सबूतों पर खरा नहीं उतरता और एक तरह से भारत की वैज्ञानिक परंपराओं के इतिहास अध्ययन पर जो गंभीर अनुसंधान चल रहा है, उसका माखौल उड़ाता है। वैदिक परंपराएं अपने मीमांसक अनुशासन के माध्यम से हमें वेदों के विश्लेषण में तर्कशीलता पर तथा न्यायसंगत विवेकबुद्धि पर जोर देने के लिए कहती हैं। आप के दावे एक तरह से उन्हीं परंपराओं से असंगत हैं जिनकी हिफाजत का आप दावा करते हैं।’**

निश्चित ही इस किस्म का बयान देने में मंत्री महोदय अकेले नहीं कहे जा सकते हैं। कुछ माह पहले राजस्थान के शिक्षा मंत्री ने यह बयान देकर चौंका दिया था कि गायें एकमात्र ऐसी पशु हैं जो ऑक्सीजन छोड़ती हैं।

भले ही अब बात थोड़ी पुरानी लगे मगर याद करें कि किस तरह धीरूभाई अंबानी के अस्पताल के उद्घाटन के अवसर पर खुद प्रधानमंत्री जनाब मोदी ने चिकित्सकीय विज्ञान को मिथकशास्त्र से जोड़ा था तथा गणेश और कर्ण की प्रचलित कहानियों के बहाने प्राचीन भारत में ‘प्लास्टिक सर्जरी’ और ‘जेनेटिक साइंस’ की मौजूदगी को रेखांकित किया था।

प्रधानमंत्री कार्यालय द्वारा वेबसाइट पर डाले गए उनके व्याख्यान के मुताबिक उन्होंने कहा था ‘हम गणेशजी की पूजा करते हैं। कोई प्लास्टिक सर्जन होगा उस जमाने में जिसने मनुष्य के शरीर पर हाथी का सिर रख कर के प्लास्टिक सर्जरी का प्रारंभ किया होगा।’

दरअसल इन दिनों आलम यहां तक पहुंचा है कि संविधान की कसम खाए लोगों से इस किस्म की अवैज्ञानिक बातें कहीं जा रही हैं और यकीन करना मुश्किल हो रहा है कि उसी संसद की पटल पर वर्ष 1958 में विज्ञान नीति का प्रस्ताव तत्कालीन प्रधानमंत्री ने पूरा पढ़ा था।

13 मार्च 1958 और एक मई 1958 को उस पर हुई बहस में किसी सांसद ने यह नहीं कहा कि भारत धर्म और आस्था का देश है। सांसदों ने कुंभ मेले, धार्मिक यात्राओं पर कटाक्ष किए थे, जिनका इस्तेमाल उनके मुताबिक ‘अंधविश्वास फैलाने के लिए किया जाता है।’ नवस्वाधीन भारत को विज्ञान एवं तर्कशीलता के रास्ते पर आगे ले जाने के प्रति बहुमत की पूरी सहमति थी।

यह विचारणीय मसला किसी को लग सकता है कि

मंत्रियों की अपनी इन मान्यताओं, समझदारी को लेकर शेष जनता को क्यों चिंतित होना चाहिए? दरअसल ज़िम्मेदारी के पद पर बैठे इन लोगों की राय अपने निजी कक्षों तक सीमित नहीं है, उसका प्रभाव नीतियों पर भी पड़ता दिख रहा है।

मिसाल के तौर पर विज्ञान के विकास के लिए फंड आपूर्ति बढ़ाने के बजाय—जो पहले से बहुत कम है—उसका आवंटन ऐसी चीजों पर हो रहा है जिनमें इस समझदारी को प्रतिबिंबित होते देखा जा सकता है।

याद रहे विज्ञान की नई शाखा के तौर पर काउपैथी का आगमन या गोविज्ञान का इस क्लब में नया प्रवेश हुआ है। कुछ वक्त पहले राष्ट्रीय स्तर के तमाम विज्ञान विभागों और राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं ने इस संबंध में एक नए साझे क्रदम का ऐलान किया था।

डिपार्टमेंट ऑफ साइंस एंड टेक्नोलॉजी द्वारा ‘पंचगव्य’ की वैज्ञानिक पुष्टि और इस सिलसिले में अनुसंधान को आगे बढ़ाने के लिए राष्ट्रीय संचालन समिति का गठन किया गया है। इस 19 सदस्यीय कमेटी का कार्यकाल तीन साल का है।

वहीं दूसरी तरफ आलम यह है कि आईआईटी, एनआईटी और आईआईएसईआर जैसे प्रमुख विज्ञान-तकनीक संस्थानों की वित्तीय सहायता को घटाया जा रहा है, वैज्ञानिक शोध में सहायता के लिए विश्वविद्यालयों को फंड की कमी झेलनी पड़ रही है।

डिपार्टमेंट ऑफ साइंस एंड टेक्नोलॉजी, सेंटर फॉर साइंटिफिक एंड इंडस्ट्रियल रिसर्च जैसे संस्थानों के पास अपने कर्मचारियों, वैज्ञानिकों की तनख्वाह देने के लिए पैसे के लाले पड़ रहे हैं, उन सभी को कहा जा रहा है कि वह अपने आविष्कार और अन्य स्रोतों से अपने वेतन का एक हिस्सा जुटाया करें।

इसे महज संयोग नहीं कहा जा सकता कि कर्णधारों के विशिष्ट वैचारिक आग्रहों ने भारतीय विज्ञान कांग्रेस की बहसों को भी प्रभावित किया है—जहां यह देखने में आया है कि छद्म विज्ञान को विज्ञान के आवरण में पेश किया जा रहा है या वैज्ञानिक संस्थानों द्वारा मिलने वाली राशि में कटौती जारी है तथा एक विशिष्ट एजेंडा को आगे बढ़ाने में उनका इस्तेमाल हो रहा है।

बीते साल की शुरुआत में तिरुपति में आयोजित ‘भारत विज्ञान कांग्रेस’ के अधिवेशन को लेकर वैज्ञानिकों के एक हिस्से एवं लोक विज्ञान तथा तर्कशील आंदोलन के कार्यकर्ताओं ने अपनी आपत्ति पहले ही दर्ज की थी।

जाने-माने वैज्ञानिक और सेंटर फॉर सेल्युलर एंड मॉलीक्यूलर बायोलॉजी के पूर्व निदेशक पीएम भार्गव (जिनका कुछ समय पहले निधन हुआ) द्वारा इस संबंध में जारी बयान काफी चर्चित

भी हुआ था जब उन्होंने विज्ञान कांग्रेस में विज्ञान एवं आध्यात्मिकता जैसे मसलों पर सत्र आयोजित करने के लिए केंद्र सरकार तथा विज्ञान कांग्रेस के आयोजकों की तीखी भर्त्सना की थी।

उनका कहना था, 'मैं अभी तक चालीस से अधिक बार भारतीय विज्ञान कांग्रेस के अधिवेशनों में 1948 के बाद से उपस्थित रहा हूँ मगर विज्ञान को अंधश्रद्धा के समकक्ष रखना एक तरह से भारतीय विज्ञान के दिवालियेपन का सबूत है।'

यहां तक कि इसका असर स्कूली किताबों की अंतर्वस्तु पर साफ़ दिख रहा है। मिसाल के तौर पर, गुजरात सरकार द्वारा सरकारी स्कूलों के लिए अनिवार्य बना दी गई राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारक दीनानाथ बत्रा की किताबों को पलटें, तो इसका अंदाजा लगता है।

तीन साल से अधिक वक्त पहले गुजरात सरकार ने एक परिपत्र के जरिये राज्य के 42,000 सरकारी स्कूलों को यह निर्देश दिया कि वह पूरक साहित्य के तौर पर दीनानाथ बत्रा की नौ किताबों के सेट को शामिल करे।

इन किताबों को लेकर 'इंडियन एक्सप्रेस' ने दो तीन भागों में स्टोरी की थी। दिलचस्प बात यह है कि गुजरात के सरकारी स्कूलों में पूरक पाठ्यक्रम में शामिल इन किताबों में प्रधानमंत्री जनाब नरेंद्र मोदी एवं गुजरात के शिक्षा मंत्रियों भूपेंद्र सिंह आदि के संदेश भी शामिल किए गए हैं। 'तेजोमय भारत' किताब में भारत की 'महानता' के क्रिस्से बयान किए गए हैं :

**अमेरिका स्टेम सेल रिसर्च का श्रेय लेना चाहता है, मगर सच्चाई यह है कि भारत के बालकृष्ण गणपत मातापुरकर ने शरीर के हिस्सों को पुनर्जीवित करने के लिए पेटेंट पहले ही हासिल किया है। आप को यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस रिसर्च में नया कुछ नहीं है और डॉ. मातापुरकर महाभारत से प्रेरित हुए थे। कुंती के एक बच्चा था जो सूर्य से भी तेज़ था। जब गांधारी को यह पता चला तो उसका गर्भपात हुआ और उसकी कोख से मांस का लंबा टुकड़ा बाहर निकला। द्वैपायन व्यास को बुलाया गया जिन्होंने उसे कुछ दवाइयों के साथ पानी की टंकी में रखा। बाद में उन्होंने मांस के उस टुकड़े को 100 भागों में बांट दिया और उन्हें घी से भरपूर टैंकों में दो साल के लिए रख दिया। दो साल बाद उसमें से 100 कौरव निकले। उसे पढ़ने के बाद मातापुरकर ने एहसास किया कि**

**स्टेम सेल की खोज उनकी अपनी नहीं है बल्कि वह महाभारत में भी दिखती है। ( पेज 92-93 )**

**हम जानते हैं कि टेलीविजन का आविष्कार स्कॉटलैंड के एक पादरी जॉन लोगी बेयर्ड ने 1926 में किया। मगर हम आप को उसके पहले दूरदर्शन में ले जाना चाहते हैं भारत के मनीषी योगविद्या के जरिये दिव्य दृष्टि प्राप्त कर लेते थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि टेलीविजन का आविष्कार यहीं से दिखता है। महाभारत में, संजय हस्तिनापुर के राजमहल में बैठा अपनी दिव्य शक्ति का प्रयोग कर महाभारत के युद्ध का सजीव हाल दृष्टिहीन धृतराष्ट्र को दे रहा था। ( पेज 64 )**

**हम जिसे मोटरकार के नाम से जानते हैं उसका अस्तित्व वैदिक काल में बना हुआ था। उसे अनाश्रु रथ कहा जाता था। आम तौर पर एक रथ को घोड़ों से खींचा जाता है मगर अनाश्रु रथ एक ऐसा रथ होता है जो घोड़ों के बिना—यंत्र रथ के तौर पर चलता है, जो आज की मोटरकार है, ऋग्वेद में इसका उल्लेख है। ( पेज 60 )**

कल्पना ही की जा सकती है इस क्रिस्म की बातों को पढ़कर बच्चों के मस्तिष्क पर किस क्रिस्म का प्रभाव पड़ता होगा।

पाकिस्तान के बौद्धिक माहौल पर लिखे अपने एक अन्य लेख में प्रोफेसर परवेज़ हुदभाय ने लिखा था, 'दुनिया में किसी भी अन्य इलाके की तुलना में पाकिस्तान एवं अफ़ग़ानिस्तान में अतार्किकता तेज़ी से बढ़ी है और खतरनाक हो चली है। लड़ाइयों में मारे जाने वाले सिपाहियों की तुलना में यहां पोलियो कर्मचारियों की उम्र कम होती है। और अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि, इस हक़ीक़त को देखते हुए स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय युवा मनो का प्रबोधन करने के बजाय उन्हें कुचलने में लगे हैं, अतार्किकता के खिलाफ़ संघर्ष निश्चित ही यहां अधिक चुनौतीपूर्ण होने वाला है।'

इसमें कोई दो राय नहीं कि अपने मुल्क में भी बढ़ती बंददिमागी एवं अतार्किकता को जिस क्रिस्म की शह मिल रही है और असहमति को आवाज़ों को सुनियोजित ढंग से कुचला जा रहा है, वहां स्थिति को गंभीरता का एहसास करते हुए संगठित हस्तक्षेप की ज़रूरत है ताकि संविधान की आत्मा की रक्षा हो सके। पाकिस्तान का वर्तमान भारत का भविष्य न बने इसके लिए लगातार सचेत रहने की ज़रूरत है।

(लेखक सामाजिक कार्यकर्ता और चिंतक हैं।)



---

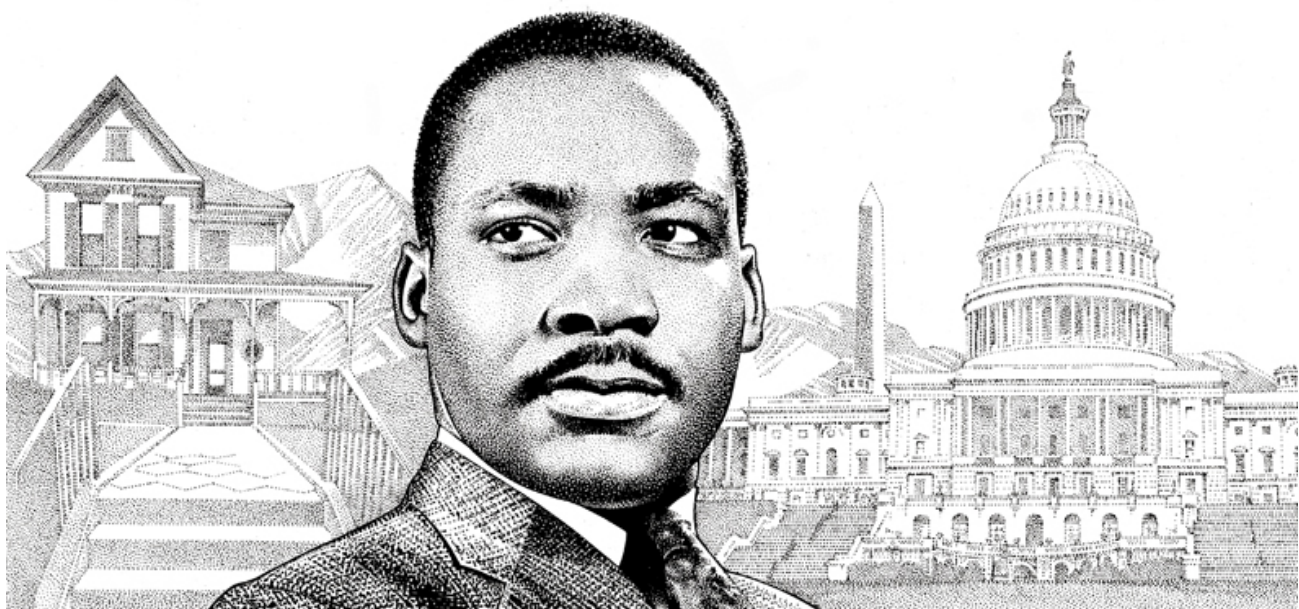
## मार्टिन लूथर किंग जूनियर : जिनके लिए ईसा मसीह प्रेरणास्रोत थे और महात्मा गांधी मार्गदर्शक

अपनी आत्मकथा में मार्टिन लूथर किंग जूनियर ने अपने विचारों और कार्यों पर महात्मा गांधी के प्रभाव के बारे में काफी विस्तार से लिखा है।

---

चार जुलाई, 1965 को अमेरिका हर साल की तरह अपना स्वतंत्रता दिवस मना रहा था। मार्टिन लूथर किंग जूनियर भी हमेशा की तरह अटलांटा के उसी चर्च में प्रवचन दे रहे थे, जिसमें कभी उनके पिता प्रवचन किया करते थे। अक्सर बोलते-बोलते किंग जूनियर को भारत और महात्मा गांधी का कोई प्रसंग याद आ ही जाता था और उस दिन भी ऐसा ही हुआ, लेकिन उस दिन का प्रसंग श्रोताओं के लिए थोड़ा हिला देने वाला था।

किंग जूनियर ने कहा, 'मुझे याद है जब मैं और श्रीमती किंग भारत में थे तो एक दोपहर हम भारत के सुदूर दक्षिणी राज्य केरल के त्रिवेंद्रम शहर गए। उस दोपहर मुझे वहां एक स्कूल में बोलना था। वह अपने देश के हाई स्कूल जैसा ही था। और इस स्कूल में बड़ी संख्या में ऐसे विद्यार्थी भी थे जो पहले अछूत कहे जाने वाले लोगों के बच्चे थे। प्रिंसिपल ने मेरा परिचय दिया और परिचय के आखिर में कहा—'बच्चों, अब मैं आपके सामने प्रस्तुत करना चाहूंगा संयुक्त राज्य



अमेरिका के एक साथी अछूत को।' एक पल के लिए तो मैं थोड़ा भौचक्का रह गया और खीज भी गया कि अब मुझे अछूत के नाम से बुलाया जाएगा।'

'...लेकिन फिर मैंने इस सच्चाई के बारे में सोचना शुरू किया। मेरे दो करोड़ से अधिक भाई-बहन अभी भी इस दौलतमंद समाज में गरीबी के एक घुटनभरे पिंजरे में घुट रहे हैं। मैंने इस सच्चाई के बारे में सोचना शुरू किया कि मेरे दो करोड़ से अधिक भाई बहन अभी भी हमारे देश के बड़े शहरों में चूहों से भरी, असहनीय मलिन-बस्तियों में रहने को मजबूर हैं, बिना सुविधा वाले स्कूलों में जा रहे हैं, उनके मनोरंजन की पर्याप्त सुविधाएं नहीं हैं। और फिर मैंने खुद से कहा—'हां, मैं एक अछूत हूँ। और संयुक्त राज्य अमेरिका का हर नीग्रो एक अछूत है।'

बाद में एक अन्य अवसर पर उन्होंने छूआछूत उन्मूलन में गांधी के योगदान को इस तरह याद किया, 'छूआछूत के खिलाफ सबसे पहला काम गांधी ने यह किया कि एक 'अछूत' लड़की को अपनी बेटी के रूप में गोद ले लिया। उन्होंने उसे अपने आश्रम में अपने साथ रखा। उन्होंने अपने जीवन से दिखाया कि छूआछूत को जाना ही होगा। ...एक दिन महात्मा गांधी उठ खड़े हुए और अपने देशवासियों से कहा— तुम इन अछूतों का शोषण कर रहे हो। भले ही ब्रिटेन की दासता से निजात पाने के लिए हम जी-जान से लड़ रहे हैं, लेकिन हम अपने ही इन लोगों का शोषण कर रहे हैं और हम उनसे उनका आत्मत्व और आत्म-सम्मान छीन रहे हैं। गांधी ने कहा—मैं तब तक भोजन ग्रहण नहीं करूंगा जब तक सवर्णों के नेता अछूतों के नेता के साथ आकर मुझे यह नहीं कहते कि छूआछूत समाप्त होगा और मंदिरों के दरवाजे अछूतों के लिए खोल दिए जाएंगे।'

1950 में 21 साल के इस अश्वेत अमेरिकी नौजवान के हृदय में एक खलबली मची हुई थी। मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदभाव और सामाजिक संघर्ष का हल आखिर क्या हो, यह प्रश्न उसके मन में घूमता रहता। घूम-फिरकर वह बार-बार ईसा मसीह की शरण में जाता कि मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम ही इसका एकमात्र इलाज है। लेकिन कैसे? इसका सामाजिक या राजनीतिक तरीका क्या हो? इस प्रश्न पर आकर वह अटक जाता था। अंत में तो वह इस हद तक निराश हो गया कि उसने तय कर लिया कि अमेरिका में भी श्वेत-अश्वेत के बीच भेदभाव को समाप्त करने का एकमात्र तरीका हथियार उठाकर सशस्त्र संघर्ष करना ही है।

उसी दौरान उन्होंने डच मूल के प्रसिद्ध अमेरिकी शांतिवादी एजे मस्टे का एक व्याख्यान सुना। मस्टे के प्रेम, शांति और भाईचारे के संदेश ने उन्हें बहुत प्रभावित तो किया, लेकिन तरह-तरह के भेदभाव, शोषण, अन्याय और युद्धों से भरी दुनिया में उन्हें उनका शांतिवाद बहुत ही अव्यावहारिक लगा। और इसके बाद जब उन्होंने नीत्से को पढ़ा, तो प्रेम के जरिए सामाजिक अन्याय को दूर करने में उनकी रही-सही आस्था भी जाती रही। फिर उन्हें पता चला कि हॉवर्ड यूनिवर्सिटी के डॉ. मोर्डेके जॉनसन महात्मा गांधी के बारे में कोई व्याख्यान देने वाले हैं। रविवार का दिन था और वे इस व्याख्यान को सुनने के लिए फिलाडेल्फिया के लिए चल पड़े। डॉ. जॉनसन हाल ही में भारत का दौरा करके लौटे थे और गांधी से खासे प्रभावित थे। उन्होंने अपने व्याख्यान में महात्मा गांधी के जीवन और विचारों के बारे में विस्तार से बताया।

किंग जूनियर ने उस दिन के बारे में लिखा है, 'गांधी का संदेश इतना गहरा और विचारोत्तेजक था कि उस सभास्थल से मैं निकला और सीधे जाकर गांधी के जीवन और कार्यों के बारे में आधा दर्जन किताबें खरीद लाया।' अपनी आत्मकथा में उन्होंने अपने विचारों और कार्यों पर महात्मा गांधी के प्रभाव के बारे में विस्तार से लिखा है। आज पूरी दुनिया और विशेषकर भारतीय समाज जिस प्रकार के संघर्षों में फंस गया है, ऐसे हालात में किंग जूनियर की जयंती पर गांधी के बारे में उनके विचारों को फिर से पढ़ना और समझना बहुत जरूरी लगता है।

किंग जूनियर लिखते हैं, 'ज्यादातर लोगों की तरह मैंने भी गांधी के बारे में सुना जरूर था, लेकिन उन्हें गंभीरता से पढ़ा नहीं था। जैसे-जैसे मैं उन्हें पढ़ता गया, वैसे-वैसे उनके अहिंसक प्रतिरोध के अभियानों के प्रति मैं अत्यधिक मंत्रमुग्ध सा होता गया। खासतौर पर मैं समुद्र तक उनके नमक मार्च (दांडी मार्च) और उनके अनगिनत उपवासों से बहुत अधिक प्रेरित हुआ।'

'...सत्याग्रह की पूरी अवधारणा ही मेरे लिए बहुत मायने रखती थी। इसमें 'सत्य' का मतलब है प्रेम और 'आग्रह' का अर्थ है बल। इस तरह सत्याग्रह का अर्थ है सत्य का बल या प्रेम का बल। जैसे-जैसे मैं गांधी के दर्शन में गहरे उतरता गया, प्रेम की शक्ति के बारे में मेरे संदेह भी धीरे-धीरे छंटते गए। और पहली बार सामाजिक सुधार के क्षेत्र में इसकी ताकत मुझे देखने में आई। गांधी को पढ़ने से पहले मैं लगभग इस निष्कर्ष पर पहुंच चुका था कि ईसा मसीह

द्वारा बताई गई प्रेम की नीति केवल व्यक्तिगत संबंधों में ही प्रभावी हो सकती है, सामाजिक संबंधों में नहीं। मुझे लगता था कि 'दूसरा गाल आगे कर देने' या 'अपने शत्रुओं से प्रेम करने' वाला दर्शन केवल व्यक्ति-व्यक्ति के बीच होने वाले संघर्षों की स्थिति में ही लागू होता है। प्रजातीय समूहों या राष्ट्रों के बीच संघर्ष की स्थिति में मुझे एक ज्यादा यथार्थवादी दृष्टिकोण जरूरत महसूस होती थी। लेकिन गांधी को पढ़ने के बाद मैंने देखा कि मैं कितना गलत सोचता था।'

'...गांधी संभवतः इतिहास के ऐसे पहले शख्स होंगे जिन्होंने ईसा मसीह के प्रेम की नीति को महज व्यक्तियों के बीच की नीति से ऊपर उठाकर बड़े पैमाने पर एक शक्तिशाली और प्रभावी सामाजिक बल के रूप में स्थापित कर दिया। प्रेम गांधी के लिए सामाजिक और सामूहिक परिवर्तन का एक शक्तिशाली उपकरण था। प्रेम और अहिंसा पर इस गांधीवादी जोर में ही मैं सामाजिक सुधार का वह तरीका खोज पाया जिसे मैं कब से ढूँढ़ रहा था। जो बौद्धिक और नैतिक संतुष्टि मैं बेंथम और मिल के उपयोगितावाद, मार्क्स और लेनिन के क्रांतिकारी पद्धतियों, हॉब्स के सामाजिक अनुबंध सिद्धांत और 'प्रकृति की ओर लौटो' वाले रूसो के आशावाद और नीत्शे के सुपरमैन के दर्शन में नहीं पा सका था, वह मुझे गांधी के अहिंसक प्रतिरोध के दर्शन में मिला।'

'गांधी को पढ़ने के बाद मैं पूरी तरह आश्चर्य हो गया कि सच्चा शांतिवाद बुराई के प्रति अ-प्रतिरोध (नॉन-रेज़िस्टेंस) नहीं है, बल्कि बुराई के प्रति अहिंसक प्रतिरोध है। इन दोनों तरीकों में जमीन आसमान का फर्क है। गांधी ने बुराई का प्रतिकार उतनी ही सख्ती और ताकत से किया है, जितना कि कोई हिंसक प्रतिकार करने वाला करता, लेकिन उन्होंने घृणा के बजाय प्रेम के साथ प्रतिरोध किया। सच्चा शांतिवाद बुराई के प्रति अयथार्थवादी आत्मसमर्पण नहीं है, बल्कि यह प्रेम की शक्ति के जरिए साहस के साथ बुराई का सामना करना है। इस विश्वास के साथ कि किसी को हिंसक चोट पहुंचाने से अच्छा है, वह हिंसक चोट स्वयं खा लेना। क्योंकि किसी के ऊपर हिंसा करने से पूरे जगत में हिंसा और कड़वाहट का अस्तित्व कई गुणा बढ़ जाता है, जबकि हिंसाकारी की चोट अपने ऊपर ले लेने से प्रतिपक्षी में शर्म की भावना पैदा हो सकती है, और इससे उसका हृदय-परिवर्तन हो सकता है।'

1955-56 में किंग जूनियर की भागीदारी वाला प्रसिद्ध मांटगोमरी बस बहिष्कार आंदोलन महात्मा गांधी के असहयोग

आंदोलन और सत्याग्रह से ही प्रेरित था। उस आंदोलन के अपने अनुभव के बारे में किंग जूनियर ने अपनी आत्मकथा में लिखा है, 'जैसे-जैसे दिन बीतते गए, महात्मा गांधी की प्रेरणा ने अपना असर डालना शुरू कर दिया। मुझे जल्दी ही पता चल गया कि प्रेम के ईसाई सिद्धांत को यदि अहिंसा के गांधीवादी तरीके से प्रयोग किया जाए, तो यह नीग्रो लोगों को अपने स्वतंत्रता संग्राम में काम आने वाला सबसे शक्तिशाली हथियार के रूप में उपलब्ध था।'

'...1957 तक महात्मा गांधी का नाम मांटगोमरी में अच्छी तरह जाना जाने लगा था। वैसे भी लोग जिन्होंने भारत के इस कृषकाय भूरे संत का नाम कभी नहीं सुना था, वे भी अब गांधी का नाम ऐसे ले रहे थे, मानो उन्हें खूब अच्छी तरह जानने का दम भर रहे हों। अहिंसक प्रतिरोध ही इस आंदोलन की तकनीक के रूप में उभरा था, जबकि प्रेम इसको काबू में रखने वाले आदर्श का काम कर रहा था। दूसरे शब्दों में कहूं तो ईसा मसीह ने उत्साह और प्रेरणा दी, जबकि गांधी ने हमें तरीका मुहैया कराया।'

अपनी भारत यात्रा के अंतिम दिन 9 मार्च, 1959 को आकाशवाणी से प्रसारित किए गए अपने विदाई संदेश में किंग जूनियर ने कहा था—'सच्चे अर्थों में महात्मा गांधी का जीवन अपने आप में कुछ सार्वभौमिक सिद्धांतों का मूर्तरूप था। ये सिद्धांत सृष्टि की नैतिक संरचना में अंतर्निहित ऐसे सिद्धांत हैं, जो गुरुत्वाकर्षण के नियम की तरह ही अपरिहार्य हैं।'

22 मार्च, 1959 को मांटगोमरी में खासतौर पर गांधी के ऊपर अपने प्रवचन में किंग जूनियर ने कहा था, 'दुनिया गांधी जैसे लोगों को पसंद नहीं करती। कितना आश्चर्य है, नहीं? वे ईसा मसीह जैसे लोगों को भी पसंद नहीं करते। वे लिंकन जैसे लोगों को भी पसंद नहीं करते। उन्होंने गांधी को मार डाला—उस आदमी को जिसने भारत के लिए सब कुछ किया। ...क्या यह महत्वपूर्ण नहीं है कि ईसामसीह और गांधी दोनों ही शुक्रवार के दिन मारे गए। और अब्राहम लिंकन भी तो एकदम उन्हीं कारणों से मार डाले गए जिन कारणों से गांधी को गोली मारी गई।'

तब किसे पता था कि करीब नौ साल बाद चार अप्रैल, 1968 को खुद किंग जूनियर भी उन्हीं कारणों से मार डाले जाएंगे, जिन कारणों से उनके मुताबिक ईसा मसीह, लिंकन और गांधी मार डाले गए। हालांकि महज 39 साल जितनी कम उम्र में ही मरकर भी वे भी हमेशा के लिए अमर हो गए। साभार : सत्याग्रह

---

## मुंबई के पत्रकारों ने जो किया वो देश के पत्रकारों के लिए नज़ीर है

---

सोहराबुद्दीन एनकाउंटर मामले की अदालती कार्यवाही की मीडिया रिपोर्टिंग पर लगी पाबंदी को नौ पत्रकारों ने हाईकोर्ट में चुनौती दी थी, जिसके बाद हाईकोर्ट ने यह पाबंदी हटा दी। उनकी जीत पत्रकारिता की जीत है। बॉम्बे हाईकोर्ट ने सीबीआई की विशेष अदालत के उस आदेश को निरस्त कर दिया, जिसमें सोहराबुद्दीन शेख फर्जी मुठभेड़ मामले की सुनवाई की कार्यवाही की रिपोर्टिंग या प्रकाशन से पत्रकारों को रोका गया था।

मीडिया रिपोर्टिंग पर लगी रोक हटाने का फैसला सुनाते हुए जस्टिस रेवती मोहिते डेरे ने कहा, 'प्रेस के अधिकार अभिव्यक्ति की आजादी देने वाले संवैधानिक अधिकार में निहित हैं। एक खुली सुनवाई की रिपोर्टिंग में प्रेस न केवल अपने अधिकार का प्रयोग करती है बल्कि आम जनता को इस तरह की सूचनाएं उपलब्ध कराने के बड़े उद्देश्य को भी पूरा करती है।' संवैधानिक मुद्दों पर जोर देने के साथ जस्टिस मोहिते डेरे ने यह माना कि सीबीआई के विशेष जज ने अपनी शक्तियों से बाहर जाकर मीडिया रिपोर्टिंग पर पाबंदी का आदेश दिया है। उन्होंने स्पष्ट कहा कि सीआरपीसी (आपराधिक प्रक्रिया संहिता) में इस तरह का आदेश देने का कोई प्रावधान नहीं है।

प्रेस की आजादी को लेकर जस्टिस मोहिते डेरे का यह महत्वपूर्ण निर्णय ऐसे समय में आया है जब मीडिया भीषण दबाव में है। बेहद कमजोर आधार पर दायर होने वाले मानहानि के मुकदमे रोज की बात हो गए हैं। इससे भी ज्यादा चिंता की बात यह है कि अपना काम कर रहे पत्रकारों को धमकियों और हिंसा का सामना करना पड़ रहा है।

सीबीआई कोर्ट के फैसले को नौ पत्रकारों ने हाईकोर्ट में चुनौती इस पेशे के सिद्धांतों के चलते दी थी—उनकी जीत इस पेशे के आधारभूत सिद्धांतों की पुष्टि करती है।

सोहराबुद्दीन मामले का इतिहास उतार-चढ़ाव भरा रहा है। सोहराबुद्दीन के अलावा 2003 से 2006 के बीच हुए

21 लोगों के ग़ैर-न्यायिक 'एनकाउंटर' पर सुप्रीम कोर्ट द्वारा जांच के आदेश के चलते गुजरात के तत्कालीन गृहमंत्री अमित शाह को न केवल इस्तीफा देना पड़ा, बल्कि वे जेल भी गए। शाह को 2014 में सीबीआई की विशेष अदालत ने बरी कर दिया, लेकिन नवंबर 2017 में विशेष सीबीआई जज बृजगोपाल हरकिशन लोया के परिवार द्वारा उनकी मौत पर उठाए गए सवालियों के बाद यह मुद्दा फिर चर्चा में आ गया।

इस मामले में लोगों की दिलचस्पी और बढ़ गई जब सुप्रीम कोर्ट के चार वरिष्ठतम जजों द्वारा एक अप्रत्याशित प्रेस कॉन्फ्रेंस बुलाकर ऐसे संकेत दिए गए कि चीफ जस्टिस द्वारा, लोया मामले समेत बिना किसी तार्किक आधार के विशेष जजों को मुकदमे सौंपे जा रहे हैं।

सीबीआई के शाह के बरी होने के फैसले को चुनौती देने से इनकार और उसके इस कदम को चुनौती देने पर हुई याचिका का विरोध इस बात को पुष्ट करता है कि इस मामले में न्याय को ताक पर रख दिया गया है।

ऐसे में सीबीआई जज का मीडिया रिपोर्टिंग पर पाबंदी का आदेश इस मामले को जानने के जनता के अधिकार का उल्लंघन करता है। एक लोकतंत्र में किसी भी मामले में प्रेस पर पाबंदी के लिए कोई जगह नहीं होती; इस मामले में तो यह बेवजह और किसी संसरशिप की तरह था। पर अब से सुनवाई की विस्तृत रिपोर्टिंग होगी, जैसे उसे होना चाहिए। हालांकि यह जरूरी है कि जस्टिस मोहिते डेरे का प्रेस को लोकतंत्र का सबसे ताकतवर स्तंभ कहना कोई मामूली-सी बात बनकर न रह जाए। न्यायपालिका, सरकार, कानून और व्यवस्था चलाने वालों और खासकर मीडिया प्रबंधकों को इसे गंभीरता से लेने की जरूरत है।

प्रेस के खतरे खत्म नहीं होने वाले और इनके खिलाफ खड़े होने की जरूरत है—ये न सिर्फ सरकार से हैं, बल्कि कॉरपोरेट और रसूखदारों से भी हैं। जो पत्रकार सीबीआई कोर्ट के इस ग़ैर कानूनी आदेश के खिलाफ खड़े हुए, उन्होंने बस रास्ता दिखाया है। साभार : द वायर

---

## हामिद दलवई : जिसे तीन तलाक सहित कई मुद्दों पर भारतीय मुस्लिमों का सबसे अहम नुमाइंदा होना चाहिए

■ राहुल कोटियाल



ऐसे समय में जब तीन तलाक खत्म करने से जुड़े कानून पर संसद में बवाल चल रहा है, केंद्र सरकार समान नागरिक संहिता को लागू करने के तरीके तलाश रही है, जब देशभर में गोरक्षा के नाम पर सैकड़ों संगठन उग आए हैं और गोहत्या लगातार चर्चा का विषय बनी हुई है, जब कश्मीर की समस्या लगातार विकराल होती दिख रही है, बुर्के पर देश में ही नहीं बल्कि दुनिया भर में बहस चल रही है, सांप्रदायिक हिंसा घटना और कट्टरपंथ की भावना में लगातार बढ़ोतरी हो रही है, हामिद दलवई के विचारों की अहमियत कई गुना बढ़ जाती है।

हामिद दलवई के विचारों, बल्कि उनके नाम से भी, कम ही लोग परिचित हैं। लेकिन उनके विचारों के महत्व को इससे समझा जा सकता है कि प्रसिद्ध इतिहासकार और विचारक रामचंद्र गुहा ने उन्हें अपनी चर्चित किताब 'मेकर्स ऑफ़ मॉडर्न इंडिया' (आधुनिक भारत के निर्माता) में शामिल किया है। इस किताब में 18वीं सदी से लेकर अब तक, भारत में पैदा हुए सिर्फ 19 ऐसे लोगों को शामिल किया गया है जिनके विचारों ने आधुनिक भारत के निर्माण में अहम भूमिका निभाई है। हामिद दलवई के बारे में रामचंद्र गुहा लिखते हैं, 'उनके विचारों की प्रासंगिकता सिर्फ भारत या भारतीयों तक ही सीमित नहीं। मेरा मानना है कि 9/11 की घटना के बाद की दुनिया में उनके लेख हर उस देश या महाद्वीप में पढ़े जाने चाहिए जहां विभिन्न धर्मों के लोग शांति से एक साथ रहना चाहते हैं।'

हामिद दलवई का जन्म 1932 में महाराष्ट्र के रत्नागिरी जिले में हुआ था। उनकी औपचारिक शिक्षा

के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। रामचंद्र गुहा इस बारे में लिखते हैं कि वे शायद कभी कॉलेज नहीं गए थे। हामिद दलवई ने अपने सभी लेख और किताबें मराठी में ही लिखीं। उनके मित्र और मराठी लेखक दिलीप चित्रे ने बाद में उनके काम का अंग्रेजी में अनुवाद किया। हामिद दलवई को असल पहचान इन अनुवादों से ही मिली। लेकिन एक तरफ जहां उनके लेख प्रगतिशील लोगों के बीच लोकप्रिय हुए तो दूसरी तरफ उन्हें धार्मिक लोगों द्वारा नकार दिया गया। 1970 में हामिद दलवई के एक निबंध का अनुवाद करते हुए दिलीप चित्रे ने उनके बारे में लिखा था, 'हिंदुओं के लिए 'यवन' होने के साथ ही वह (हामिद दलवई) अब मुसलमानों के 'काफिर' होने का भी गौरव हासिल कर चुका है।'

हामिद दलवई के विचार आज इसलिए जरूरी हैं क्योंकि जिन मुद्दों की चर्चा इस लेख के शुरुआत में की गई है, उन सभी मुद्दों पर उन्होंने बेहद स्पष्ट और बेबाकी से लिखा है। इन मुद्दों पर उनके विचारों को 1968 में प्रकशित उनकी किताब 'भारत में मुस्लिम राजनीति' के माध्यम से समझा जा सकता है। भारतीय मुसलमानों की वर्तमान समस्या और उसके कारणों के बारे में वे इस किताब में लिखते हैं, 'अपनी समस्याओं के लिए हिंदुओं को जिम्मेदार ठहराना भारतीय मुसलमानों की पुरानी आदत है। उन्होंने कभी अपनी समस्याओं को अपने खुद के रवैये से जोड़कर नहीं देखा। मुसलमानों के पिछड़े होने का मुख्य कारण यह है कि भारत में अंग्रेजी हुकूमत के दौरान जब शिक्षा सुधार हुए तो उन्होंने

इसका विरोध किया।'

हामिद दलवई का मानना था कि मुसलमान हमेशा अपनी धार्मिक जकड़न के कारण पिछड़े रहे हैं। सर सैयद अहमद खान ने उन्हें इस जकड़न से मुक्त करने के प्रयास शुरू किये थे लेकिन अंततः वे भी सफल नहीं रहे। दलवई लिखते हैं, 'सर सैयद अहमद खान भले ही धार्मिक कट्टरता से मुक्त थे लेकिन मुगलों के वंशज होने का बेकार का घमंड उन पर भी हावी था। यही कारण था कि जिस दौर में उन्हें सामूहिक राष्ट्रीय चेतना के निर्माण का काम करना चाहिए था, वे खुद ही इस अहंकारी भावना में बह गए कि मुसलमान तो भारत के विजेता रहे हैं।' दलवई ने माना है कि सर सैयद अहमद खान के इसी रवैये से अलगाववादी मुस्लिम राष्ट्रवाद की नींव पड़ी जिसे आगे चलकर मोहम्मद अली जिन्ना ने और भी ज्यादा विस्तार दे दिया।

सांप्रदायिक कट्टरपंथ पर हामिद दलवई लिखते हैं, 'हिंदू कट्टरपंथियों से मेरे लाख मतभेद हैं लेकिन उनकी कुछ बातों से मैं सहमत भी हूँ। वे सही कहते हैं कि इस देश में अल्पसंख्यकों को बराबरी का अधिकार और बराबर मौके मिलने चाहिए लेकिन उन्हें कोई विशेष दर्जा या विशेषाधिकार नहीं मिलना चाहिए। मैं उनकी इस बात से भी सहमत हूँ कि कश्मीर भारत का अभिन्न हिस्सा है और भारतीय जमीन पर पाकिस्तान के हर आक्रमण का मुंहतोड़ जवाब दिया जाना जरूरी है।'

भले ही हामिद दलवई हिंदू कट्टरवादियों की कुछ बातों से सहमति रखते थे, लेकिन इनसे भी उनका विरोध उतना ही था जितना कि मुस्लिम कट्टरपंथियों से। वे मानते थे कि मुस्लिम कट्टरपंथ का जवाब यदि हिंदू कट्टरपंथ से दिया जाता है तो यह एक आत्मघाती कदम होगा। गोहत्या पर प्रतिबंध का उदाहरण देते हुए वे लिखते हैं, 'मैं कृषि-आर्थिक आधार पर भी इस तरह के प्रतिबंध का विरोध करता हूँ। लेकिन गैर-आर्थिक आधारों पर तो मेरा विरोध और भी ज्यादा मजबूत है क्योंकि अगर गाय की पवित्रता वाली हिंदुओं की मान्यता को बढ़ावा दिया जाता है तो यह हिंदुओं के आधुनिकीकरण और सामाजिक प्रगति में एक बड़ी बाधा होगी। पहले भी हिंदू अपनी धार्मिक रूढ़ियों के चलते ही पिछड़े हैं। महमूद गज़नवी ने सिर्फ गायों के झुंड को ढाल बनाकर ही हिंदू सेनाओं को हरा दिया था।'

दलवई का मानना था जिस इतिहास ने हिंदू-मुस्लिमों को दुश्मनी और दुराग्रह दिया है, उस इतिहास से बाहर आना ही आज के समाज की सबसे बड़ी जरूरत है। अपनी किताब में वे लिखते हैं, 'आज के ब्राह्मण युवाओं का इसमें कोई दोष नहीं है कि उनके पूर्वजों ने दलितों के साथ अमानवीय व्यवहार किया था। इसी तरह महमूद गज़नवी और औरंगजेब ने जो अत्याचार हिंदुओं पर किये थे

उसके लिए आज का मुसलमान जिम्मेदार नहीं है। सौभाग्य से आज हिंदुओं में एक ऐसा वर्ग मौजूद है जो अपने पूर्वजों के अपराधों और अत्याचारों का बोझ अपने कंधों पर लेकर सामाजिक समानता की पैरवी कर रहा है। मुस्लिम समाज को भी ऐसे ही एक वर्ग की जरूरत है जो औरंगजेब के अपराधों को स्वीकार करे और एक धर्मनिरपेक्ष समाज की स्थापना में सहायक बने। ऐसे धर्मनिरपेक्ष, आधुनिक और सही मायनों में उदार वर्ग का उभरना ही हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिक समस्याओं का एकमात्र कारगर समाधान है।'

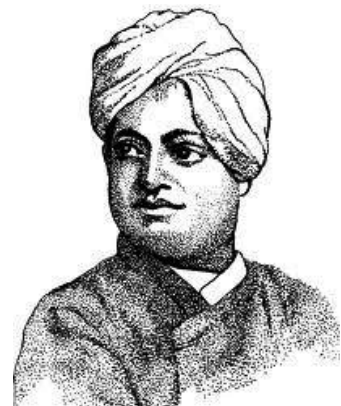
सांप्रदायिक समस्याओं को सुलझाने के लिए हामिद दलवई कुछ सुझाव और भी देते हैं। अपने एक लेख में वे लिखते हैं, 'हमें भारत में मुस्लिम आधुनिकीकरण का समर्थन करना चाहिए। हमें मांग करनी चाहिए कि सभी भारतीय नागरिकों के लिए एक जैसे ही नागरिक कानून हों। भारत में होने वाली सभी शादियों का पंजीकरण एक सामान नागरिक संहिता के अंतर्गत होना चाहिए। धर्म परिवर्तन पर तब तक पूरी तरह प्रतिबंध होना चाहिए जब तक कि वह किसी वयस्क द्वारा मजिस्ट्रेट के सामने न हो रहा हो। अंतर धार्मिक विवाह से होने वाली संतान को यह छूट होनी चाहिए कि वो वयस्क होने पर कोई भी धर्म अपना सके। यदि सड़क के बीच कोई दरगाह या मंदिर है तो उसे हटाया जाना चाहिए। सभी धार्मिक स्थानों से होने वाली कमाई का नियंत्रण सरकार के हाथ में होना चाहिए और इस कमाई को शिक्षा और नागरिक कल्याण के कार्यों में लगाया जाना चाहिए। धर्म या जाति की पहचान दर्ज करना अनिवार्य नहीं होना चाहिए।'

1970 में हामिद दलवई ने मुस्लिम महिलाओं के अधिकार सुनिश्चित करने के लिए 'मुस्लिम सत्यशोधक समाज' की स्थापना की थी। इसका नाम उन्होंने ज्योतिराव फुले के सत्यशोधक समाज की तर्ज पर ही रखा था। इस संस्था ने तीन तलाक की प्रथा को समाप्त करने के लिए सामाजिक और कानूनन, दोनों अभियान चलाए। हामिद दलवई ने सामान नागरिक संहिता की भी वकालत की और ऐसे भी कई प्रयास किये कि सामाजिक जीवन से किसी भी तरह की सांप्रदायिक पहचान को नगण्य बना दिया जाए।

44 साल की उम्र तक लगातार धार्मिक कट्टरता के खिलाफ लड़ने के बाद 1977 में हामिद दलवई की किडनी फेल हो जाने के चलते मौत हो गई थी। रामचंद्र गुहा के अनुसार, धार्मिक समानता के चलते कुछ लोग हामिद दलवई को नए दौर का सर सैयद अहमद खान कह सकते हैं। लेकिन, दलवई ने सिर्फ मुलसमानों को आधुनिक शिक्षा के मामले में हिंदुओं के बराबर लाने की नहीं, बल्कि उन्हें धार्मिक जकड़न से पूरी तरह रिहा करने की लड़ाई लड़ी है।

साभार : सत्याग्रह

# उन पांच समस्याओं पर विवेकानंद क्या सोचते थे जो आज भी देश की राह का सबसे बड़ा रोड़ा है?



■ हिमांशु शेखर

कुछ समय पहले एक चर्चित साप्ताहिक पत्रिका ने स्वामी विवेकानंद पर विशेषांक निकाला था। इसमें छपे अपने लेख में राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी के शब्द थे, 'हमारे जीवन में स्वामी विवेकानंद एक ऐसे तारे के रूप में हैं जो ज्ञान और उम्मीदों से भरा है। उन्होंने यह साबित किया है कि बगैर देह के भी वे हर जगह के लोगों को हर वक्त प्रेरित करते रहेंगे। आइए हम सब मिलकर उनके बताए रास्ते पर आगे बढ़ें।' विवेकानंद से प्रेरणा लेने की बात कहने वाले प्रणव मुखर्जी अकेले नहीं हैं। वक्त में पीछे जाएं तो हस्तियों की यह लंबी सूची जवाहर लाल नेहरू और महात्मा गांधी तक जाती है। 12 जनवरी 1863 को बंगाल में जन्मे नरेंद्रनाथ दत्त बाद में रामकृष्ण परमहंस के शिष्य बने और फिर 25 साल की उम्र में ही गेरुआ पहनकर स्वामी विवेकानंद हो गए। 1893 में शिकागो में हुई धर्म संसद में उनके भाषण ने उनकी ख्याति को आसमान पर पहुंचा दिया।

गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर ने एक बार कहा था, 'यदि आप भारत को जानना चाहते हैं तो विवेकानंद को पढ़िये।' लेकिन यह सिर्फ जानने भर की बात नहीं है। कई लोग हैं जो मानते हैं कि इस देश की समस्याओं के लिहाज से भी विवेकानंद के विचार उनके जाने के एक सदी बाद भी प्रासंगिक बने हुए हैं—न सिर्फ भारत के नीति निर्धारकों के लिए बल्कि विकास की पश्चिमी अवधारणा का अंधानुकरण करते उसके समाज के लिए भी।

## गरीबी

देश में गरीबी कितनी है, इस बारे में सबसे चर्चित आंकड़ा अर्जुन सेनगुप्ता की अगुवाई वाली एक

समिति का है। इस समिति ने कुछ साल पहले यह अनुमान लगाया था कि देश की 77 फीसदी आबादी रोजाना 20 रुपये से कम पर गुजर बसर करने को मजबूर है। गरीब और गरीबी को लेकर किस तरह का रवैया अपनाया जाना चाहिए, यह बताते हुए विवेकानंद कहते हैं, 'हर व्यक्ति को भगवान की तरह देखो। आप किसी की मदद नहीं कर सकते, बस उसकी सेवा कर सकते हैं। अगर आपके पास अधिकार हैं तो यह समझें कि भगवान के बच्चों की सेवा खुद उसकी ही सेवा है। गरीबों की सेवा का काम पूजा भाव से करो।' वे आगे कहते हैं, 'जब तक करोड़ों लोग भूखे और वंचित रहेंगे तब तक मैं हर उस आदमी को गद्दार मानूंगा जिसने गरीबों की कीमत पर शिक्षा तो हासिल की लेकिन, उनकी चिंता बिल्कुल नहीं की।'

विवेकानंद की इन दो बातों से साफ है कि वे इस बड़ी समस्या का समाधान गरीबों को लेकर रवैये में बदलाव के रूप में दे रहे हैं। एक बड़ा वर्ग मानता है कि आज अगर देश के नीति निर्धारक गरीबों को लेकर सिर्फ अपना रवैया बदल लें तो फिर जो नीतियां बनेंगी, वे असल मायनों में गरीबपरस्त होंगी।

## खेती

भले ही देश की 70 फीसदी आबादी अब भी गुजर-बसर के लिए कृषि पर निर्भर हो लेकिन किसान और किसानों की दुर्दशा किसी से छिपी हुई नहीं है। कहने को तो सरकार हर साल बजट में किसानों के कल्याण के लिए लंबे-चौड़े वादे करती है। लेकिन बड़ी-बड़ी योजनाओं और कर्ज माफी की घोषणाओं होने के बावजूद नियमित अंतराल पर आने वाली

किसानों की आत्महत्या की खबरें बताती हैं कि जमीनी हाल एक बड़ी हद तक जस का तस है।

किसान और किसानों की समस्याओं के समाधान के बारे में स्वामी विवेकानंद कहते हैं, 'किसानों की समस्या का समाधान शिक्षा के जरिए किया जा सकता है। भारत अब भी ज्ञान के सीमित प्रसार की राह पर चल रहा है। शिक्षा को मुट्ठी भर लोगों की जागीर बनाने से काम नहीं चलेगा। एक बार ब्रिटेन में यह चर्चा गर्म हुई कि वहां के मजदूर काफी मजदूरी ले रहे हैं और जर्मनी के मजदूर सस्ते हैं। इसके बाद ब्रिटेन ने एक आयोग जर्मनी भेजा। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि जर्मनी के मजदूर अधिक मजदूरी ले रहे हैं। आयोग ने इसकी वजह शिक्षा को बताया। भारत में जोर शिक्षा के प्रसार पर नहीं बल्कि इसे खुद तक सीमित रखने पर है।'

### शिक्षा

और वह शिक्षा कैसी हो, इसके बारे में स्वामी विवेकानंद कहते हैं, 'शिक्षा का मतलब यह नहीं है कि दिमाग में कई ऐसी सूचनाएं एकत्रित कर ली जाएं जिसका जीवन में कोई इस्तेमाल ही नहीं हो। हमारी शिक्षा जीवन निर्माण, व्यक्ति निर्माण और चरित्र निर्माण पर आधारित होनी चाहिए। ऐसी शिक्षा हासिल करने वाला व्यक्ति उस व्यक्ति से अधिक शिक्षित माना जाएगा जिसने पूरे पुस्तकालय को कंठस्थ कर लिया हो। अगर सूचनाएं ही शिक्षा होतीं तो फिर तो पुस्तकालय ही संत हो गए होते।' शिक्षा के महत्व को रेखांकित करते हुए वे आगे कहते हैं, 'यूरोप के कई शहरों की यात्रा करके मैंने यह देखा कि वहां के गरीब भी शिक्षित हैं और उनकी हालत हमारे यहां के गरीबों से बहुत अच्छी है। यह फर्क शिक्षा ने पैदा किया है। शिक्षा आत्मबल देती है।'

### महिला सशक्तिकरण

राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो की सालाना रिपोर्टों को उठाकर देखा जाए तो पता चलता है कि महिलाओं के खिलाफ अपराध के मामले में स्थिति कितनी विकराल है। सुरक्षा के अलावा महिलाएं और भी कई मोर्चों पर समस्याओं का सामना कर रही हैं। उनके सशक्तिकरण को लेकर तमाम सरकारी योजनाओं और सैकड़ों की संख्या में गैर सरकारी संगठनों की सक्रियता के बावजूद घर से लेकर शिक्षा और रोजगार सहित हर जगह उनसे दोगुना दर्जे के नागरिक की तरह व्यवहार होता है। महिलाओं की समस्याओं के समाधान के लिए राष्ट्रीय महिला आयोग है लेकिन, नख-दंतविहीन यह आयोग सिर्फ नुमाइशी बनकर रह गया है।

महिलाओं को सशक्त बनाने की राह सुझाते हुए स्वामी विवेकानंद कहते हैं, 'महिलाओं को बस शिक्षा दे दो। इसके बाद वे खुद बताएंगी उनके लिए किस तरह की सुधार की जरूरत है।

मामूली दिक्कतों में भी उन्हें अब तक असहाय बने रहने, दूसरों पर निर्भर रहने और आंसू बहाने का ही प्रशिक्षण दिया गया है।' महिला सशक्तिकरण को देश की प्रगति से जोड़ने की वकालत करते हुए वे कहते हैं, 'किसी भी देश की प्रगति का सबसे बेहतर पैमाना यह है कि वह देश अपनी महिलाओं के साथ कैसा व्यवहार करता है। जब तक महिलाओं की स्थिति नहीं सुधरेगी तब तक इस दुनिया के कल्याण की कोई संभावना नहीं है। भारत में पुरुषों ने महिलाओं को उत्पादन मशीन बनाकर छोड़ा है। अगर महिलाओं को सशक्त नहीं बनाया गया तो फिर तरक्की का कोई रास्ता नहीं बचता।'

### युवा सशक्तिकरण

देश की 51 फीसदी आबादी की उम्र 25 साल से कम है। इस आधार पर कहना गलत नहीं होगा कि देश की प्रगति काफी हद तक युवाओं पर निर्भर करती है। लेकिन क्या इस वर्ग को वे सुविधाएं मिल रही हैं जिसके आधार पर वह सशक्त बनकर देश की प्रगति में अपनी भूमिका निभा सके। युवाओं का एक बड़ा वर्ग उसी वंचित समुदाय से है जो अपनी बुनियादी जरूरतों को पूरा करने को लेकर संघर्ष कर रहा है। जो शिक्षित युवा है उसके बारे में कॉरपोरेट जगत की अक्सर शिकायत रहती है कि उसे जो शिक्षा मिली है उसमें गुणवत्ता का अभाव है। आपराधिक घटनाओं में युवाओं की बढ़ती संलिप्तता पर अक्सर चिंता जताई जाती है। कहा जा सकता है कि जिस वर्ग पर देश की तरक्की का सबसे अधिक भार है, वह आज कई समस्याओं का सामना कर रहा है। युवाओं को राह दिखाते हुए स्वामी विवेकानंद कहते हैं, 'कोई भी समाज अपराधियों की सक्रियता की वजह से गर्त में नहीं जाता बल्कि अच्छे लोगों की निष्क्रियता इसकी असली वजह है। इसलिए नायक बनो। हमेशा निडर रहो। यह डर ही है जो दुख लाता है और भय की वजह है अपने आसपास को नहीं समझना। कुछ प्रतिबद्ध लोग देश का जितना भला कर सकते हैं उतना भला कोई बड़ी भीड़ एक सदी में भी नहीं कर सकती। मेरे बच्चो, आग में कूदने के लिए तैयार रहो। भारत को सिर्फ उसके हजार नौजवानों का बलिदान चाहिए।'

युवाओं को सफलता का सूत्र देते हुए विवेकानंद कहते हैं, 'कोई एक विचार लो और उसे अपनी जिंदगी बना लो। उसी के बारे में सोचो और सपने में भी वही देखो। उस विचार को जियो। अपने शरीर के हर अंग को उस विचार से भर लो। सफलता का रास्ता यही है। जब तुम कोई काम कर रहे हो तो फिर किसी और चीज के बारे में मत सोचो। इसे पूजा की तरह करो। इस दुनिया में आए हो तो अपनी छाप छोड़कर जाओ। ऐसा नहीं किया तो फिर तुझमें और पेड़-पत्थरों में अंतर क्या रहा? वे भी पैदा होते हैं और नष्ट हो जाते हैं।'

साभार : सत्याग्रह



---

कुर्रतुल ऐन हैदर :

उस माला का एक मनका जो

अमीर खुसरो और कबीर जैसे मनकों से बनी है

■ अनुराग भारद्वाज

---

वे मानती थीं कि मज़हबी समस्याओं का हल मिली-जुली तहज़ीब में ही है। उन्होंने कहीं लिखा था—ये तहज़ीब किसी अखबार की सुखी नहीं जो दूसरे दिन ही भुला दी जाए।

दिन... नहीं पता. महीना... वो भी नहीं पता। साल... शायद 1960.

जगह... लन्दन या पाकिस्तान का कोई एक शहर, एक बड़े हॉल में दो लोगों की बातचीत।

‘आपा आपका खत आया है।’

‘किसका है यासीन?’

‘अब आपने इतना भी नहीं पढ़ाया कि मैं अंग्रेज़ी समझ लूं। हां, खत के ऊपर तीन शेरों के मुंह वाली तस्वीर है।’

‘इधर लाएं, जल्दी। और एक ब्लैक कॉफी बना ले आईये।’ वे शायद समझ गई थीं।

वे खत पढ़ते-पढ़ते मुस्कुरा रही हैं।

कहां से है, ऐनी आपा और ऐसा क्या है जो आप मुस्कुरा रही हैं? यासिन ने सवाल पहले दागा, कॉफी बाद में दी।

ऐनी आपा : लिफाफे पर तीन शेरों वाली जो तस्वीर है ना, ये दरअसल चार शेर हैं और ये निशान-ए-हिंदुस्तान है। मेरी हिंदुस्तान बसने की दरखास्त मंजूर कर ली है वहां की सरकार ने, यासीन मियां।

यासीन : ‘पर क्यों जा रही हैं वहां आपा? तक्रसीम के वक्त वहाँ से तो आयी थीं आप अपने भाईजान के साथ। और फिर ये मुसलमानों का मुल्क

है। मैंने तो सुना है कि आपका खानदान बुखारा से ताल्लुक रखता है।’

आपा : ठीक ही सुना है। हमारे बुजुर्ग सैय्यद जलालुद्दीन बुखारी 1236 में बुखारा से हिंदुस्तान गए थे। उन दिनों दिल्ली में रज़िया सुल्तान गद्दीनशीं थीं। बुखारी साहब तबियत के सूफी थे, लिहाज़ा उन्हें दिल्ली सल्तनत की सरपरस्ती मिल गयी थी। फिर कुछ वक्त बाद... ‘तशरीफ़ रखिये मियां’... ‘अरे वहां नहीं... कितनी बार कहा है कि सोफे पर बैठ करे, नीचे क्यों गद्दी जमा लेते हैं?’

यासीन : ‘आपने जवाब नहीं दिया, आपा, कि वहां जाकर क्यों रहना अब?’

आपा : मेरी किताब ‘आग का दरिया’ पाकिस्तान सरकार को पसंद नहीं आई है।

यासीन : ‘ऐसा क्या लिखा है आपने उसमें...?’

ऐनी आपा या कुर्रतुल ऐन हैदर अपने आप से सवाल करती हुई, ‘मैंने ऐसा क्या लिख दिया था?’

पश्चिम और हिंदुस्तान की गंगा-जमुनी तहज़ीब का शानदार संगम कुर्रतुल ऐन हैदर हिन्दुतान के साहित्य में बड़ा दखल रखती हैं। वह चाहे इतिहास हो या फिर किस्सागोई या, राजनीति, या दूसरी जुबान के अफसाना-निगारों का उर्दू में तर्जुमा, उनकी लिखी हुई हर चीज अहम् है।

पैदाइश अलीगढ़ (हिंदुस्तान) के एक नामी गिरामी खानदान में। वालिद सैय्यद सज्जाद हैदर ‘यलदरम’ अंग्रेज़ी हुकूमत में अफ़ग़ानिस्तान, तुर्की वगैरह के राजदूत रहे। ‘यलदरम’ के लिए कहा जाता

है कि वो नयी उर्दू दास्तानगोई के पहले जायज़ा उस्ताद थे। वालिदा नज़र सज्जाद भी एक मशहूर अफ़साना निगार थीं और उन्हें उर्दू का जेन ऑस्टिन कहा जाता था। जब कुर्तुल पैदा हुई तो घर और आसपास अदीब लोगों का जमघट था।

ऐनी आपा ने शुरूआती तालीम लखनऊ में हासिल की, अलीगढ़ से इंटर पास किया। बाद में लखनऊ से ही बीए और जब 18वां लगा तो अफ़सानों की उनकी पहली किताब 'शीशे का घर' शायी (प्रकाशित) हुई। 19 की होते-होते एमए किया और दूसरी किताब 'मेरे भी सनमख़ाने' को लोगों ने हाथों-हाथ लिया। बाद में उन्होंने लंदन के हीदरलेस आर्ट्स स्कूल से भी पढाई की।

कुछ ही महिला साहित्यकार जैसे ऐनी आपा, इस्मत चुगताई और अमृता प्रीतम हैं जिन्होंने तकसीम के ग़म को झेला है और उस पर शिद्दत से लिखा है। ये तो हम मानते हैं कि दंगों-फ़सादों में सबसे ज़्यादा अगर कोई झेलता है तो औरतें। वे बेवा होती हैं, बाप तो फिर भूल जाता है औलाद के मरने का ग़म वे नहीं भूलतीं। और फिर कहे जाने वाले मर्द के हाथों... चुनांचे, इनकी ग़मबयानी मंटो, राजिंदर बेदी और गुलज़ार सरीखे अफ़साना-निगारों पर भारी पड़ जाती हैं।

कमलेश्वर ने कभी इस तिकड़ी के लिए कहा था : अमृता प्रीतम, इस्मत चुगताई और कुर्तुल ऐन हैदर जैसी विद्रोहिणियों ने हिंदुस्तानी अदब को पूरी दुनिया में एक अलग स्थान दिलाया है। जो जिया, जो भोगा या जो देखा, उसे लिखना शायद बहुत मुश्किल नहीं, पर जो लिखा वह झकझोर कर रख दे, तो तय है कि बात कुछ ख़ास ही होगी। ये कमलेश्वर की गोलमोल टिप्पणी है क्योंकि उन्होंने अपने द्वारा संकलित 'शताब्दी की कालजयी कहानियां' में



एक भी कहानी ऐनी आपा की नहीं उठाई। ख़ैर, वे कमलेश्वर के परिचय की मोहताज नहीं हैं। दरअसल, जितनी बात कमलेश्वर ने कही है, कुर्तुल का परिचय उससे ज़्यादा है। आइये देखें कैसे?

कुल 20 साल की उम्र में ही उन्होंने हिंदुस्तान के बंटवारे को देख लिया था। वो बंटवारा जिसने एक तहज़ीब, चलो संस्कृति कह लेते हैं, के दो फाड़ कर दिए थे। रातों-रात भाई से भाई जुदा ही नहीं हुआ बल्कि दुश्मन हो गया था। इस बंटवारे ने उनके खानदान को तहस-नहस कर दिया और उनके भाई-बहन

पाकिस्तान चले गए। हिंदुस्तान में रह गई कुर्तुल और पिता। जब लखनऊ में पिता चल बसे तो अपने भाई मुस्तफ़ा हैदर के साथ वो भी पाकिस्तान चली गयीं।

उन्होंने दुनिया के उतार-चढ़ावों, बंटवारों, कौमों के पतन को नज़दीक से देखा और महसूस किया और ये उनके अफ़सानों में झलकता भी है। उनके पात्र दर्शन की बातें करते हैं और अपने सुख-दुख को इतिहास के दर्पण में तौलते हैं। उन्हें हमेशा लगता था कि मज़हबी समस्याओं का हल मिली-जुली तहज़ीब में निहां (छुपा) है और उससे ही इसका हल किया जाए। उन्होंने कहीं लिखा था कि 'ये तहज़ीब (हिंदुस्तान की) किसी अखबार की सुखी नहीं, जो दूसरे दिन ही भुला दी जाए। यह तहज़ीब दुनिया के इतिहास का उन्वान (टाइटल) है जो अपनी जगह महफूज़ है और दूसरी तहज़ीबों को अपनी ओर खींचता है।' दरअसल मेरी नज़र में बात ये है कि कुर्तुल ऐन हैदर उस माला का एक मनका हैं जो अमीर खुसरो, तुलसीदास, कबीर जैसे मनकों से बनी है।

बड़ी बेख़ौफ़ बातें करने के लिए वे जानी जाती रहीं।

अयोध्या में बाबरी मस्जिद ढहाये जाने पर उन्होंने तीखी प्रतिक्रिया करते हुए हिन्दू-मुसलमान दोनों को खरी-खरी सुनाई थी। कबीर को उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा था कि—‘अरे, इन दोउ राह न पाई।’ और कुछ ऐसी ही बात अपनी किताब ‘आग का दरिया’ में भी वे उठाती हैं।

यासीन : आपा, ऐसा क्या था उस किताब में? उसने ये सवाल दूसरी बार पूछा।

‘यासीन मियां, सुनना चाहते हैं, तो सुनिये, ये हिंदुस्तान कोई लकरी के उस पार का मुल्क नहीं है। ये 4500 साल की तारीख (इतिहास) है जिसका फैलाव खैबर दर्रे से लेकर बंगाल की खाड़ी तक और हिमाले से लेकर हिंद महासागर तक है। इसमें कारवां आते गए और ये गुलिस्तां बनता गया। आर्य, हूण, कुशान और फिर मुसलमान सब आये और बस गए। राम यहीं हैं, बुद्ध यहीं हैं और यहीं हैं निजामुद्दीन औलिया और गरीब नवाज। यहां आकर सब कुछ गड्डु-मड्डु हो गया। लकरी खींच कर पाकिस्तान तो बना लिया पर तहजीब वही रखी जो हिंदुस्तान की थी। वही पहनावा, वही खाना, ‘बाजरे के सिट्टे...’ यहां भी गाया जाता है और वहां भी। अगर हिंदुओं की तहजीब कमतर होती तो क्यूं रहीम ‘कृष्ण’ गाते और उनसे पहले खुसरो ‘राम’ गाते? चलो गाया सो गाया, अब भी तो जब बच्चा मुसलमान के घर पैदा होता है, गीत कृष्ण-कन्हैया के गाए जाते हैं, मुसलमान बच्चे मुंह नीला-पीला किए गली-गली टिन बजाते हैं, साथ-साथ चिल्लाते हैं—‘हाथी घोड़ा पालकी, जय कन्हैया लाल की।’ मुसलमान पर्दानशीं औरतें जिन्होंने पूरी उम्र किसी गैर मर्द से बात नहीं की, जब ढोलक लेकर बैठती हैं तो लहक-लहक कर अलापती हैं—भरी गगरी मेरी ढलकाई तूने, श्याम हां तूने। और सुनो हिंदू तहजीब की खास बात ये है कि इसमें कोई किसी को हुक्म नहीं देता है कि ये करो, वो करो, ये करना ही है। मैंने इस तहजीब की बात की थी।’ थोड़ा रुकीं, फिर—‘कुछ मुसलमानों का अच्छा है तो कुछ हिंदुओं का और यही मिली-जुली तहजीब इस ‘हिंदुस्तान’ की पहचान है। कुछ महासभाई यहां थे और कुछ मुस्लिम लीगी वहां। आप तो आ गए अपने पाकिस्तान में, मैं तो आज भी बीच में झूल रही हूं और मुझे सुकून उस धरती पर ही मिलता है क्योंकि आज भी वहां गंगा-जमुना तहजीब है। इसलिए जा रही हूं।’

यासीन सिर्फ सुनता रह गया और उनके पूछने पर बोला, ‘... किताब का उन्वान तो आपने गालिब के शेर से लिया है ना।’ उसकी आंखे चमक उठीं ये कि चलो कुछ तो बोल पाया वो?

‘एक बात बोलूं? और न भी कहो तो फिर भी कहे देता हूं, निकाह पढ़ लीजिएगा हिंदुस्तान जाकर।’

1960 में आपा अपने ख्वाबों के हिंदुस्तान चली आयीं। यहां आकर भी उन्होंने कई बेशकीमती अफसाने जैसे ‘अगले जन्म मोहे बिटिया ना कीजो’, ‘कलंदर’, ‘कारमिन’, ‘कोहरे के पीछे’ ‘सीता हरण’ और नक्सलवाद पर ‘आखिरी शब के हमसफर’ लिखा। ‘आखिरी शब के हमसफर’ महाश्वेता देवी के उपन्यास ‘जंगल के दावेदार’ की याद दिलाता है। साहित्य अकादेमी, ज्ञानपीठ और न जाने कितने सम्मान उन्हें दिए गये। बस ताउम्र यासीन की शादी वाली बात टालती रहीं। ‘अगले जन्म मोहे ...’ को एक तरह से उनकी जीवनी भी कह सकते हैं। औरतों के शोषण पर आधारित इस कहानी की कुछ पंक्तियां लिखने से अपने-आप को रोक नहीं पा रहा हूं :

कहानी की पहली लाइन—‘लगाके काजल चले गौसाईं’ भूरे कव्वाल की गगनभेदी तान से दीपक की लौ थर्रा उठी। इससे आगे है—‘अरे लगाके काजल चले गौसइयां’ भूरे खान का 10 वर्षीय सुपुत्र शदूदू भी अपनी बारीक आवाज में गाने लगा।’

इसे अगर ध्यान से पढ़ें तो पाएंगे कि कितने सलीके से इसमें गौसाईं गोसइयां बन जाते हैं। और देखिये आपा भूरे खां और उसके बेटे से ये कव्वाली शबे मेराज (वह रात जिसमें पैगंबर साहब ईश्वर से मिलने गए थे) के किस्से पर गवाती हैं!

एक और लाइन : ‘... मैंने खाला से कहा हो जाओ ईसाई। खुदा न यहां है न वहां, फर्क क्या पड़ता है।’

और आखिरी बात, वो दोहा जिससे उन्होंने इस कहानी का उन्वान बनाया था :

‘औ रे विधाता बिनती करूं तोरी पैयां पडूं बारंबार,  
अगले जन्म मोहे बिटिया न कीजो चाहे नरक दीजो डार।’  
**चलते-चलते**

आग का दरिया के बारे में मशहूर शायर निदा फ़ाज़ली ने यहां तक कहा है कि मोहम्मद अली जिन्ना ने हिंदुस्तान के साढ़े चार हजार सालों की तारीख (इतिहास) में से मुसलमानों के 1200 सालों को अलग करके पाकिस्तान बनाया था। कुर्रतुल ऐन हैदर ने नॉवल ‘आग का दरिया’ लिख कर उन अलग किए गए 1200 सालों को हिंदुस्तान में जोड़ कर उसे फिर से एक कर दिया।

और एक बात जो बात है कि कमलेश्वर ने उनकी एक भी कहानी का चयन शताब्दी की कालजयी कहानियां, में नहीं किया पर मगर ध्यान से देखें तो उनकी ‘कितने पाकिस्तान’ का कथानक कुछ-कुछ ‘आग का दरिया’ जैसा ही है।

ऐनी आपा के ‘हिंदुस्तान’ की तमाम बेटियों के उज्जवल भविष्य की कामना के साथ।.

## अछूत समस्या

### ■ भगतसिंह



काकीनाडा में 1923 में कांग्रेस-अधिवेशन हुआ। मुहम्मद अली जौहर ने अपने अध्यक्षीय भाषण में आजकल की अनुसूचित जातियों को, जिन्हें उन दिनों 'अछूत' कहा जाता था, हिन्दू और मुस्लिम मिशनरी संस्थाओं में बाँट देने का सुझाव दिया। हिन्दू और मुस्लिम अमीर लोग इस वर्गभेद को पक्का करने के लिए धन देने को तैयार थे। इस प्रकार अछूतों के यह 'दोस्त' उन्हें धर्म के नाम पर बाँटने की कोशिशें करते थे। उसी समय जब इस मसले पर बहस का वातावरण था, भगतसिंह ने 'अछूत का सवाल' नामक लेख लिखा। इस लेख में श्रमिक वर्ग की शक्ति व सीमाओं का अनुमान लगाकर उसकी प्रगति के लिए ठोस सुझाव दिये गये हैं। भगतसिंह का यह लेख जून, 1928 के 'किरती' में विद्रोही नाम से प्रकाशित हुआ था।— सं.

हमारे देश जैसे बुरे हालात किसी दूसरे देश के नहीं हुए। यहाँ अजब-अजब सवाल उठते रहते हैं। एक अहम सवाल अछूत-समस्या है। समस्या यह है कि 30 करोड़ की जनसंख्या वाले देश में जो 6 करोड़ लोग अछूत कहलाते हैं, उनके स्पर्श मात्र से धर्म भ्रष्ट हो जाएगा! उनके मन्दिरों में प्रवेश से देवगण नाराज हो उठेंगे! कुएं से उनके द्वारा पानी निकालने से कुआँ अपवित्र हो जाएगा! ये सवाल बीसवीं सदी में किए जा रहे हैं, जिन्हें कि सुनते ही शर्म आती है।

हमारा देश बहुत अध्यात्मवादी है, लेकिन हम मनुष्य को मनुष्य का दर्जा देते हुए भी झिझकते हैं जबकि पूर्णतया भौतिकवादी कहलाने वाला यूरोप कई सदियों से इन्कलाब की आवाज उठा रहा है।

उन्होंने अमेरिका और फ्रांस की क्रांतियों के दौरान ही समानता की घोषणा कर दी थी। आज रूस ने भी हर प्रकार का भेदभाव मिटा कर क्रांति के लिए कमर कसी हुई है। हम सदा ही आत्मा-परमात्मा के वजूद को लेकर चिन्तित होने तथा इस जोरदार बहस में उलझे हुए हैं कि क्या अछूत को जनेऊ दे दिया जाएगा? वे वेद-शास्त्र पढ़ने के अधिकारी हैं अथवा नहीं? हम उलाहना देते हैं कि हमारे साथ विदेशों में अच्छा सलूक नहीं होता। अंग्रेजी शासन हमें अंग्रजों के समान नहीं समझता। लेकिन क्या हमें यह शिकायत करने का अधिकार है? सिन्ध के एक मुस्लिम सज्जन श्री नूर मुहम्मद ने, जो बम्बई कौंसिल के सदस्य हैं, इस विषय पर 1926 में खूब कहा—

"If the Hindu society refuses to allow other human beings, fellow creatures so that to attend public school, and if the president of local board representing so many lakhs of people in this house refuses to allow his fellows and brothers the elementary human right of having water to drink, what right have they to ask for more rights from the bureaucracy? Before we accuse people coming from



other lands, we should see how we ourselves behave toward our own people How can we ask for greater political rights when we ourselves deny elementary rights of human beings."

वे कहते हैं कि जब तुम एक इन्सान को पीने के लिए पानी देने से भी इनकार करते हो, जब तुम उन्हें स्कूल में भी पढ़ने नहीं देते तो तुम्हें क्या अधिकार है कि अपने लिए अधिक अधिकारों की माँग करो? जब तुम एक इन्सान को समान अधिकार देने से भी इनकार करते हो तो तुम अधिक राजनीतिक अधिकार माँगने के अधिकारी कैसे बन गए?

बात बिल्कुल खरी है। लेकिन यह क्योंकि एक मुस्लिम ने कही है इसलिए हिन्दू कहेंगे कि देखो, वह उन अछूतों को मुसलमान बना कर अपने में शामिल करना चाहते हैं।

जब तुम उन्हें इस तरह पशुओं से भी गया-बीता समझोगे तो वह जरूर ही दूसरे धर्मों में शामिल हो जाएंगे, जिनमें उन्हें अधिक अधिकार मिलेंगे, जहाँ उनसे इन्सानों-जैसा व्यवहार किया जाएगा। फिर यह कहना कि देखो जी, ईसाई और मुसलमान हिन्दू कौम को नुकसान पहुँचा रहे हैं, व्यर्थ होगा।

कितना स्पष्ट कथन है, लेकिन यह सुन कर सभी तिलमिला उठते हैं। ठीक इसी तरह की चिन्ता हिन्दुओं को भी हुई। सनातनी पण्डित भी कुछ-न-कुछ इस मसले पर सोचने लगे। बीच-बीच में बड़े 'युगांतरकारी' कहे जाने वाले भी शामिल हुए। पटना में हिन्दू महासभा का सम्मेलन लाला लाजपतराय—जोकि अछूतों के बहुत पुराने समर्थक चले आ रहे हैं—की अध्यक्षता में हुआ, तो जोरदार बहस छिड़ी। अच्छी नौक-झोंक हुई। समस्या यह थी कि अछूतों को यज्ञोपवीत धारण करने का हक है अथवा नहीं? तथा क्या उन्हें वेद-शास्त्रों का अध्ययन करने का अधिकार है? बड़े-बड़े समाज-सुधारक तमतमा गये, लेकिन लालाजी ने सबको सहमत कर दिया तथा यह दो बातें स्वीकृत कर हिन्दू धर्म की लाज रख ली। वरना जरा सोचो, कितनी शर्म की बात होती। कुत्ता हमारी गोद में बैठ सकता है। हमारी रसोई में निःसंग फिरता है, लेकिन एक इन्सान का हमसे स्पर्श हो जाए तो बस धर्म भ्रष्ट हो जाता है। इस समय मालवीय जी जैसे बड़े समाज-सुधारक, अछूतों के बड़े प्रेमी और न जाने क्या-क्या पहले एक मेहतर के हाथों गले में हार डलवा लेते हैं, लेकिन कपड़ों सहित स्नान किये बिना स्वयं को अशुद्ध समझते हैं! क्या खूब यह चाल है! सबको प्यार करनेवाले भगवान की पूजा करने के लिए मन्दिर बना है लेकिन वहाँ अछूत जा घुसे तो वह मन्दिर अपवित्र हो जाता है! भगवान रुष्ट हो जाता है! घर की

जब यह स्थिति हो तो बाहर हम बराबरी के नाम पर झगड़ते अच्छे लगते हैं? तब हमारे इस रवैये में कृतघ्नता की भी हद पाई जाती है। जो निम्नतम काम करके हमारे लिए सुविधाओं को उपलब्ध कराते हैं उन्हें ही हम दुरदुराते हैं। पशुओं की हम पूजा कर सकते हैं, लेकिन इन्सान को पास नहीं बिठा सकते!

आज इस सवाल पर बहुत शोर हो रहा है। उन विचारों पर आजकल विशेष ध्यान दिया जा रहा है। देश में मुक्ति कामना जिस तरह बढ़ रही है, उसमें साम्प्रदायिक भावना ने और कोई लाभ पहुँचाया हो अथवा नहीं लेकिन एक लाभ जरूर पहुँचाया है। अधिक अधिकारों की माँग के लिए अपनी-अपनी कौमों की संख्या बढ़ाने की चिन्ता सबको हुई। मुस्लिमों ने जरा ज्यादा जोर दिया। उन्होंने अछूतों को मुसलमान बना कर अपने बराबर अधिकार देने शुरू कर दिए। इससे हिन्दुओं के अहम को चोट पहुँची। स्पर्धा बढ़ी। फसाद भी हुए। धीरे-धीरे सिखों ने भी सोचा कि हम पीछे न रह जायें। उन्होंने भी अमृत छकाना आरम्भ कर दिया। हिंदू-सिखों के बीच अछूतों के जनेऊ उतारने या केश कटवाने के सवालों पर झगड़े हुए। अब तीनों कौमों अछूतों को अपनी-अपनी ओर खींच रही है। इसका बहुत शोर-शराबा है। उधर ईसाई चुपचाप उनका रुतबा बढ़ा रहे हैं। चलो, इस सारी हलचल से ही देश के दुर्भाग्य की लानत दूर हो रही है।

इधर जब अछूतों ने देखा कि उनकी वजह से इनमें फसाद हो रहे हैं तथा उन्हें हर कोई अपनी-अपनी खुराक समझ रहा है तो वे अलग ही क्यों न संगठित हो जाएं? इस विचार के अमल में अंग्रेजी सरकार का कोई हाथ हो अथवा न हो लेकिन इतना अवश्य है कि इस प्रचार में सरकारी मशीनरी का काफी हाथ था। 'आदि धर्म मण्डल' जैसे संगठन उस विचार के प्रचार का परिणाम हैं।

अब एक सवाल और उठता है कि इस समस्या का सही निदान क्या हो? इसका जवाब बड़ा अहम है। सबसे पहले यह निर्णय कर लेना चाहिए कि सब इन्सान समान हैं तथा न तो जन्म से कोई भिन्न पैदा हुआ और न कार्य-विभाजन से। अर्थात् क्योंकि एक आदमी गरीब मेहतर के घर पैदा हो गया है, इसलिए जीवन भर मैला ही साफ करेगा और दुनिया में किसी तरह के विकास का काम पाने का उसे कोई हक नहीं है, ये बातें फिजूल हैं। इस तरह हमारे पूर्वज आर्यों ने इनके साथ ऐसा अन्यायपूर्ण व्यवहार किया तथा उन्हें नीच कह कर दुत्कार दिया एवं निम्नकोटि के कार्य करवाने लगे। साथ ही यह भी चिन्ता हुई कि कहीं ये विद्रोह न कर दें, तब पुनर्जन्म के दर्शन का प्रचार कर दिया कि यह तुम्हारे पूर्व जन्म के पापों का फल है। अब क्या हो सकता है? चुपचाप दिन गुजारो! इस तरह उन्हें धैर्य का उपदेश देकर वे लोग उन्हें

लम्बे समय तक के लिए शान्त करा गए। लेकिन उन्होंने बड़ा पाप किया। मानव के भीतर की मानवीयता को समाप्त कर दिया। आत्मविश्वास एवं स्वावलम्बन की भावनाओं को समाप्त कर दिया। बहुत दमन और अन्याय किया गया। आज उस सबके प्रायश्चित्त का वक्त है।

इसके साथ एक दूसरी गड़बड़ी हो गयी। लोगों के मनो में आवश्यक कार्यों के प्रति घृणा पैदा हो गई। हमने जुलाहे को भी दुत्कारा। आज कपड़ा बुनने वाले भी अछूत समझे जाते हैं। यू. पी. की तरफ कहार को भी अछूत समझा जाता है। इससे बड़ी गड़बड़ी पैदा हुई। ऐसे में विकास की प्रक्रिया में रुकावटें पैदा हो रही हैं।

इन तबकों को अपने समक्ष रखते हुए हमें चाहिए कि हम न इन्हें अछूत कहें और न समझें। बस, समस्या हल हो जाती है। नौजवान भारत सभा तथा नौजवान कांग्रेस ने जो ढंग अपनाया है वह काफी अच्छा है। जिन्हें आज तक अछूत कहा जाता रहा उनसे अपने इन पापों के लिए क्षमायाचना करनी चाहिए तथा उन्हें अपने जैसा इन्सान समझना, बिना अमृत छकाए, बिना कलमा पढ़ाए या शुद्धि किए उन्हें अपने में शामिल करके उनके हाथ से पानी पीना, यही उचित ढंग है। और आपस में खींचतान करना और व्यवहार में कोई भी हक न देना, कोई ठीक बात नहीं है।

जब गाँवों में मजदूर-प्रचार शुरू हुआ उस समय किसानों को सरकारी आदमी यह बात समझा कर भड़काते थे कि देखो, यह भंगी-चमारों को सिर पर चढ़ा रहे हैं और तुम्हारा काम बंद करवाएंगे। बस किसान इतने में ही भड़क गए। उन्हें याद रहना चाहिए कि उनकी हालत तब तक नहीं सुधर सकती जब तक कि वे इन गरीबों को नीचे और कमीन कह कर अपनी जूती के नीचे दबाए रखना चाहते हैं। अक्सर कहा जाता है कि वह साफ नहीं रहते। इसका उत्तर साफ है—वे गरीब हैं। गरीबी का इलाज करो। ऊँचे-ऊँचे कुलों के गरीब लोग भी कोई कम गन्दे नहीं रहते। गन्दे काम करने का बहाना भी नहीं चल सकता, क्योंकि माताएँ बच्चों का मैला साफ करने से मेहतर तथा अछूत तो नहीं हो जाती।

लेकिन यह काम उतने समय तक नहीं हो सकता जितने समय तक कि अछूत कौमों अपने आपको संगठित न कर लें। हम तो समझते हैं कि उनका स्वयं को अलग संगठनबद्ध करना तथा मुस्लिमों के बराबर गिनती में होने के कारण उनके बराबर अधिकारों की माँग करना बहुत आशाजनक संकेत हैं। या तो साम्प्रदायिक भेद का झंझट ही खत्म करो, नहीं तो उनके अलग अधिकार उन्हें दे दो। कौंसिलों और असेम्बलियों का कर्तव्य है कि वे स्कूल-कालेज, कुएँ तथा सड़क के उपयोग की पूरी स्वतन्त्रता उन्हें दिलाएं। जबानी तौर पर ही नहीं, वरन साथ ले जाकर उन्हें कुओं

पर चढ़ाएं। उनके बच्चों को स्कूलों में प्रवेश दिलाएं। लेकिन जिस लेजिस्लेटिव में बालविवाह के विरुद्ध पेश किए बिल तथा मजहब के बहाने हाय-तौबा मचाई जाती है, वहाँ वे अछूतों को अपने साथ शामिल करने का साहस कैसे कर सकते हैं?

इसलिए हम मानते हैं कि उनके अपने जन-प्रतिनिधि हों। वे अपने लिए अधिक अधिकार माँगें। हम तो साफ कहते हैं कि उठो, अछूत कहलाने वाले असली जनसेवको तथा भाइयो! उठो! अपना इतिहास देखो। गुरु गोविन्दसिंह की फौज की असली शक्ति तुम्हीं थे! शिवाजी तुम्हारे भरोसे पर ही सब कुछ कर सके, जिस कारण उनका नाम आज भी जिन्दा है। तुम्हारी कुर्बानियाँ स्वर्णक्षरों में लिखी हुई हैं। तुम जो नित्यप्रति सेवा करके जनता के सुखों में बढ़ोतरी करके और जिन्दगी संभव बना कर यह बड़ा भारी अहसान कर रहे हो, उसे हम लोग नहीं समझते। लैण्ड-एलियेशन एक्ट के अनुसार तुम धन एकत्र कर भी जमीन नहीं खरीद सकते। तुम पर इतना जुल्म हो रहा है कि मिस मेयो मनुष्यों से भी कहती हैं—उठो, अपनी शक्ति पहचानो। संगठनबद्ध हो जाओ। असल में स्वयं कोशिश किए बिना कुछ भी न मिल सकेगा। (Those who would be free must themselves strike the blow.) स्वतन्त्रता के लिए स्वाधीनता चाहने वालों को यत्न करना चाहिए। इन्सान की धीरे-धीरे कुछ ऐसी आदतें हो गई हैं कि वह अपने लिए तो अधिक अधिकार चाहता है, लेकिन जो उनके मातहत हैं उन्हें वह अपनी जूती के नीचे ही दबाए रखना चाहता है। कहावत है—‘लातों के भूत बातों से नहीं मानते।’ अर्थात् संगठनबद्ध हो अपने पैरों पर खड़े होकर पूरे समाज को चुनौती दे दो। तब देखना, कोई भी तुम्हें तुम्हारे अधिकार देने से इन्कार करने की जुरत न कर सकेगा। तुम दूसरों की खुराक मत बनो। दूसरों के मुँह की ओर न ताको। लेकिन ध्यान रहे, नौकरशाही के झूँसे में मत फँसना। यह तुम्हारी कोई सहायता नहीं करना चाहती, बल्कि तुम्हें अपना मोहरा बनाना चाहती है। यही पूँजीवादी नौकरशाही तुम्हारी गुलामी और गरीबी का असली कारण है। इसलिए तुम उसके साथ कभी न मिलना। उसकी चालों से बचना। तब सब कुछ ठीक हो जायेगा। तुम असली सर्वहारा हो... संगठनबद्ध हो जाओ। तुम्हारी कुछ भी हानि न होगी। बस गुलामी की जंजीरें कट जाएंगी। उठो, और वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध बगावत खड़ी कर दो। धीरे-धीरे होनेवाले सुधारों से कुछ नहीं बन सकेगा। सामाजिक आन्दोलन से क्रांति पैदा कर दो तथा राजनीतिक और आर्थिक क्रांति के लिए कमर कस लो। तुम ही तो देश का मुख्य आधार हो, वास्तविक शक्ति हो। सोए हुए शेरों! उठो और बगावत खड़ी कर दो।

साभार : <https://www.marxists.org/hindi/>

---

## लोककला बरक्स आधुनिकता

■ राघवेंद्र

---



जब हम कला के बारे में बात करते हैं तो हमारा ध्यान सहज रूप से लोककला की ओर जाता है। हम ये भी बात करते हैं कि लोककला को बचाया जाना चाहिए। हम इस बात पर भी चिंतित हैं कि इन कलाओं का आधुनिकीकरण होना चाहिए। वस्तुतः कला, आधुनिकता और लोक का सम्बन्ध बेहद गहरा है परन्तु ऊपरी तौर पर यह एक दूसरे के खिलाफ खड़े दिखाई देते हैं। परन्तु क्या लोक और कला का कोई द्वन्द्व है? क्या आधुनिकता इसके विपरीत है?

लोक से तात्पर्य लोगों से है, लोगों का मतलब मनुष्य की सबसे छोटी इकाई जन से है। जन से मिलकर लोक बनता है। जन का समूह गान ही लोक है। वास्तविकता में भारतीय समाज में अति अभिजात्य समूह जन की अभिव्यक्ति महत्वपूर्ण रही है उसके समानांतर बहुलतावादी संस्कृति के पक्षधर जनसमूह की अभिव्यक्ति सत्ता द्वारा तिरस्कृत रही है। इस तिरस्कार ने लोक को अंतरमुखी बनने पर मजबूर किया क्योंकि उन्हें उस तिरस्कार में भी अपने खतम होने का खतरा महसूस हुआ। इसलिए लोक ने अपने लिए अलग उत्सव, पूजा, देवता, अनुष्ठान गढ़े और उनमें अपना उल्लास ढूँढ लिया। इस तरह से उन्होंने अभिजात्यवादी ब्राह्मणवादी संस्कृति के खिलाफ मौन विरोध किया। भारत में अनेकों जनजातीय कलाएं, लोकगीत, नाटकों को जनम दिया। ये काम सिर्फ हिन्दुस्तान में ही नहीं बल्कि दुनिया के हर कोने में हुआ है। इसके बरक्स अभिजात्य वर्ग ने भाषा, शास्त्र, दर्शन और विज्ञान की रचना की और उसे सीमित दायरे में ही रखा। अभिजात्य वर्ग की वैचारिकता लोककला तक न पहुँची और न पहुँचने दिया

गया। अभिजात्य वर्ग की गढ़ी हर एक चीज को लोकश्रम ने साँस दी है। यह सबसे बड़ी विडम्बना है की अधिकतर लोग अपने कामों और श्रम के योगदान को जानते ही नहीं हैं। शायद इसीलिए बेहतर जीवन मूल्यों और सभ्यता के निर्माण में लोक भूमिका तो बनी परन्तु उसका अपने लिए प्रयोग नहीं किया। इसीलिए आधुनिकता के मूल्य भी लोककलाओं में नहीं दिखाई पड़ते हैं। परन्तु जो सबसे बड़ी बहस है कि अभिजात्यवर्गीय संस्कृति ही आधुनिकता है तो उत्तर है की नहीं परन्तु नये परिवर्तन का बेहतर असर उन पर ही है। अब यह भी जानना जरूरी है की आधुनिकता ऊपर से कोई थोपी हुई चीज तो है नहीं बल्कि जड़ता के विरुद्ध प्रतिकार ही आधुनिकता है। यदि आप समय के अनुसार परिवर्तित मान्यताओं के साथ तालमेल नहीं कर सकते तो आपको आधुनिक होने का अधिकार नहीं है।

अब यह लोक और आधुनिकता का संबंध तो समझ में आ गया पर ये कला क्या है? बहुत सारे लोगों का कहना है की कला में वर्ग नहीं है। परन्तु व्यावहारिक रूप में उसकी आत्मा की संरचना में वर्ग नहीं है पर उसके ढाँचे में ऊपरी तौर पर वर्ग दिखाई पड़ता है। यही ढाँचागत समस्या कला के प्रयोग में है एक तरफ शास्त्रीय कलाएं हैं जिनकी शैली, स्वरूप लिपि सब पहले से तय हैं। उनमें प्रयोग की और नयेपन की जगह कम है परन्तु उसकी संरचना पर इतना शोध हुआ है कि आपका मन मोह लेगी। दूसरी तरफ लोगों की यानि लोक की अपनी समस्या, अनुष्ठान, पूजा, विरह और हर अनुभूति के नये-नये रंग हैं। जिनमें आप नाचते-कूदते अपने को भूल जायेंगे मगर आपका सौन्दर्य रसरंजन बहुत गहरा नहीं

होगा, वह थोड़ी सी अनगढ़ होगी। इसका सही विभाजन नाट्यशास्त्र करता है पहली शाखा है नाट्यधर्मी और दूसरी शाखा है लोकधर्मी। नाट्यधर्मी जो पूर्वनिश्चित मानदंडों को माने और लोकधर्मी जो अपने जरूरतों और परिस्थितियों के अनुसार गढ़ी जाए। यहाँ पर एक उलझन है की अपनी परिस्थितियों के भीतर की गई अभिव्यक्ति को यह अधिकार है की वो मानदंड तय करे? इसी प्रश्न से शास्त्र को परेशानी है क्योंकि मानदंड तय करने के अधिकार उसने अपने पास रख लिए हैं जो भी उनके अनुकूल नहीं है वह बहिष्कृत या तिरस्कृत है। लोकजीवन और कला का यही तिरस्कार उसकी स्थानीय बोध के स्थायी भाव को सुदृढ़ करती है। कलाओं के साथ सबसे जरूरी चीज होती है की वो भाषा, देश की सीमा से परे जाकर अपना संप्रेषण छोड़ सके। परन्तु लोककला को जनजातीय, स्थानीय, खास तरह के आवरण में रहने वाली कला बना कर रख दिया गया है। जिन जाति समूहों व स्थान के लोगो ने विद्रोह किया और अपने समय की मुख्यधारा के साथ अपने को अपग्रेड किया वो अन्तर्राष्ट्रीय हो गई। उन कलाओं की पहचान भी देश के सामने बढ़ी और शास्त्र के बरक्स एक शास्त्र बनकर उभर आई। परन्तु क्या शास्त्रीय होना ही आधुनिक है? क्या लोक गैर-आधुनिक है? हमें इन सवालियों के मद्देनजर योरोपीय पुनर्जागरण का उदाहरण सामने रखना होगा। उस समय वहाँ पर कला के विरोधी ताकतों पर अच्छा खासा प्रतिकार हुआ था चाहे धर्म की सत्ता हो, राजसत्ता हो या समाज में फैला अंधविश्वास, लोक ने दर्शन के साथ कंधे से कंधा मिलाकर अपने को सिरजित किया है। एशियाई संस्कृति और खासकर के दक्षिण एशिया संस्कृति में धरम और सत्ता के प्रतिकार हुए पर वो नई सत्ता और धरम को गढ़ने के लिए हुए। उनके समान्तर लोकजागरण का कार्य नहीं हुआ। यहाँ का लोक धरम भीरु और गुलामी में रहने वाला अधिक रहा है। भारतीय दर्शन ने कलाओं का सहारा लेने के बजाय धरम का अधिक सहारा लिया। यही कारण है कि शास्त्रीय और गैर-शास्त्रीय दोनों तरह की कलाओं में आधुनिकता का समावेश नहीं हुआ। हिन्दुस्तान में केवल राजनीति और समाज के भीतर आधुनिक विमर्श चले परन्तु संस्कृति के क्षेत्र में लोकस्तर पर यह व्यापक नहीं हो पाया। इसीलिए लोककलाओ के भीतर भी लिंग भेद, जातिभेद, वर्गीय दुराग्रह हमेशा बना रहा है। उसके भीतर उल्लास और रसरंजक होने के बावजूद सेक्टोइरियल इमेज तोड़ नहीं पाए। इसीलिए भारतीय कलाएं अनुष्ठान प्रिय, देवी देवता की पूजा, भजन कीर्तन या बहुत हद तक विरहणी नायक नायिका, संयोगी नायक नायिका के चित्रण

में ही लिप्त रहा है। यही ठीक स्थिति ग्रीक में भी रही परन्तु उन्होंने अपने आप को बदल लिया। भारत के संदर्भ में नाट्यशास्त्र के बाद कला को लेकर कोई क्रान्तिकारी बदलाव नहीं हुए। हमारे मुल्क में दरबारी संस्कृति से कला का विकास हुआ। ऐसा नहीं है कि कला के क्षेत्र में सबने घुटने टेक दिए। परन्तु वो किसी व्यक्ति द्वारा चलाया गया आन्दोलन ही रहा है। पूरे देश में सामूहिक तौर पर कभी भी कला के पुनर्जागरण का आन्दोलन नहीं रहा है। उदाहरण स्वरूप इष्टा या समान्तर सिनेमा को कह सकते हैं की स्वरूप बदलने की कोशिश की गई। परन्तु यह कोशिश कलाओ के कंटेंट में नये विषय का प्रवेश तो करा गये मगर उनके स्वरूप जस के तस बने रहे। यह काम राजनीतिक प्रचार का अधिक और कला को कम समृद्ध किये। हम प्रगतिशील मूल्यों को उपस्थित संरचना में ही प्रवेश कराकर परिवर्तन की उम्मीद करते रहे। पर एक समय के बाद ये सब उन्ही अनुष्ठानो व अंध विश्वासों की सुरक्षा करती नजर आई। इस तरह से साफ है की कलाओं के भीतर लोकतान्त्रिक आन्दोलन नहीं चले। यही कारण है कि जब हम लोक कला के संरक्षण और किसी कला को म्यूजियम में रखने की बात करते हैं तो समस्या को खत्म करना नहीं बल्कि उस पर चूना पोतने जैसी बात करते हैं।

आज का समय परिवर्तित हो रहा है। खेत में काम करने वाले मजदूर बदल गये हैं। फसलों की कटाई मशीनें कर रही हैं जब कटाई मशीनें फसल काट रही हैं तो कटाई के गीत कहाँ से होंगे? स्त्रियों ने जब अपने अधिकार की बात शुरू कर दी है तो विरह और स्तुति के गीत कहाँ से होंगे? दलितों ने दबंगों की ज़मीन पर काम करना बंद कर दिया है तो उनके गुलामी के गीत कहाँ से होंगे? समाज अपने को प्रगतिशील चेतना के साथ परिवर्तित करने की दसों पीढ़ा से गुज़र रहा है। ऐसे समय में गुलामी के गान के बजाय परिवर्तन और सृजन का गाना होना चाहिए। आजकल लोककला को बचाने की अपेक्षा समय के साथ टकराने की दृढ़ता दिखानी चाहिए। लोककला में सेव के बजाय अपग्रेड या अपडेट करने की आदत शामिल हो तो वह अपने मूल्यों की स्थापना स्वयं करेगी और अधिक बेहतर ढंग से आगे बढ़ेगी। समय के साथ पुराने को इतिहास में दर्ज कर नये से हाथ मिलाने के लिए तैयार होगी। इसी प्रक्रिया में वो अतीतजीवी न होकर भविष्य पर निगाहें टिकाये एक बेहतर वर्तमान में लोक रंजन मनोरंजन व आनंद तीनों का पोषण करेगी।

### इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

प्लेट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067, भारत, टेलीफोन : 091-26177904, टेलीफैक्स : 091-26177904  
ई-मेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए

मुद्रण : डिजाइन एण्ड डाइमेंशंस, एल-5 ए, शेख सराय, फेज-II, नई दिल्ली-110017